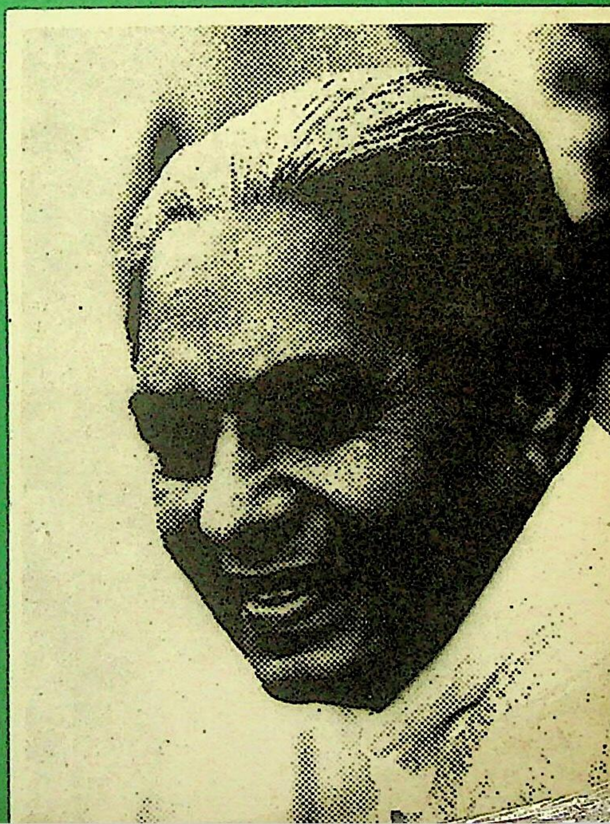
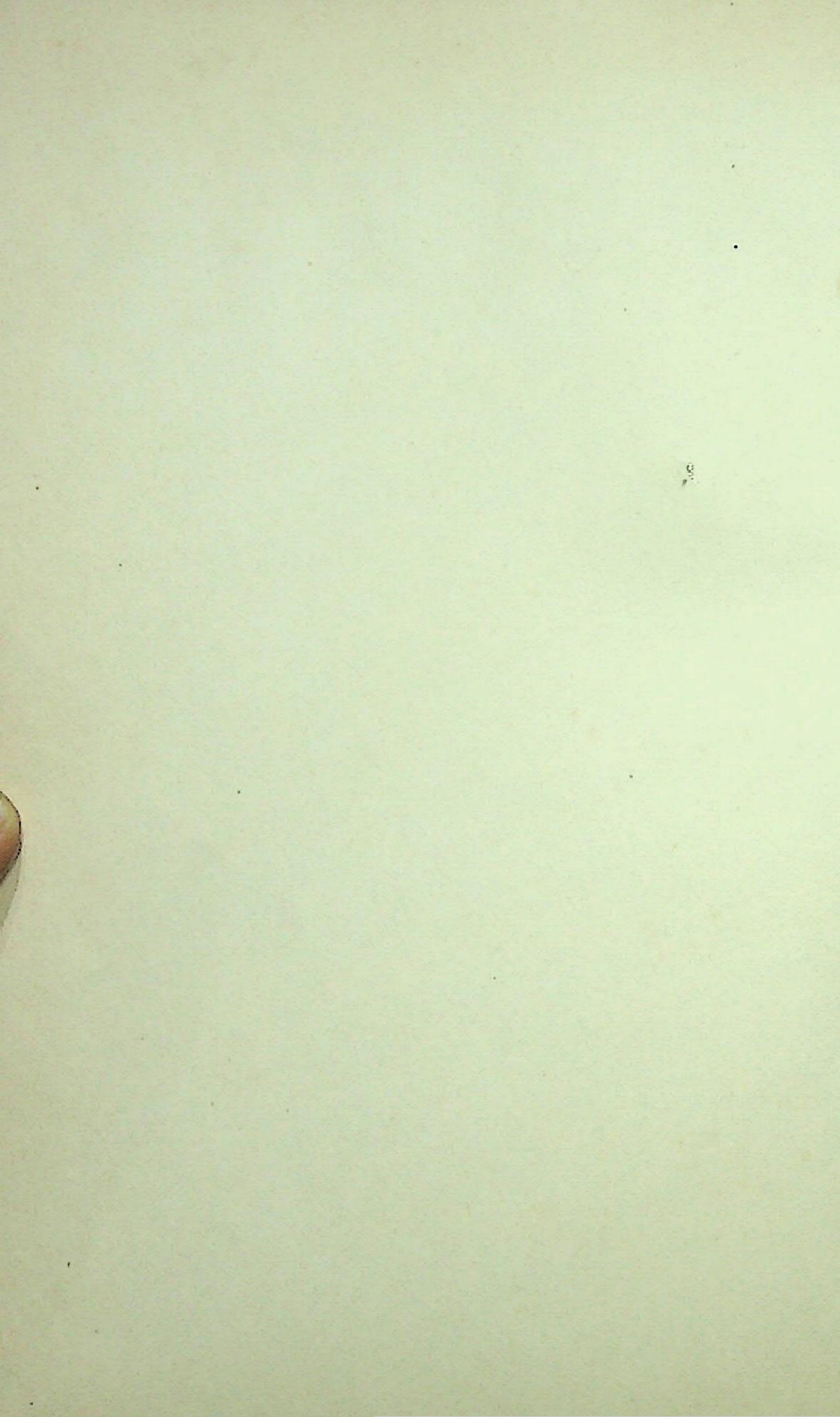


भवानी प्रसाद मिश्र

बलदेव वंशी



भारतीय साहित्य के निर्माता



भवानी प्रसाद मिश्र



अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ– रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं। इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का सम्भवत: सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ईसवी
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

भवानी प्रसाद मिश्र

लेखक

बलदेव वंशी



साहित्य अकादेमी

Bhawani Prasad Mishra : A monograph by Baldev Vanshi on the modern Hindi poet. Sahitya Akademi, New Delhi (1994), Rs. 15.

प्रथम् संस्करण : 1992
द्वितीय संस्करण : 1994

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोजशाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001
विक्रय विभाग : 'स्वाति' मंदिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, 23ए/44 एक्स.,
डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता 700 053
304 & 305 अन्ना सालई, तेनामपेट, मद्रास 600 018
172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग,
दादर, बम्बई 400 014
ए.डी.ए. रंगमंदिर, 109, जे.सी. मार्ग, बंगलौर 560 002

मूल्य : पन्द्रह रुपये
ISBN 81-7201-243-8

मुद्रक :

कम्प्यूडाटा सर्विसिज़, जंगपुरा, नई दिल्ली-110014

अनुक्रम

जीवन-वृत्त	7
काव्य-प्रकृति और सरोकार	12
गाँधीवादी विश्वासों में निष्ठा	21
कालजयी : रचनात्मक प्रासंगिकता	30
प्रकृति-वेश तथा दृष्टि	37
अनन्त काल को चुनौती	47
ाद्य-रचनाएँ	54
समकालीन मूल्यों का निर्वहन	64
परिशिष्ट—क. चयन	73
ख. प्रकाशित कृतियाँ	95
ग. सम्मान-पुरस्कार	96
घ. सम्बन्धित पुस्तकें	96

जीवन-वृत्त

भवानी प्रसाद मिश्र का जीवन-वृत्त कोई महान् घटनाओं एवं अजीव संयोगों से नहीं वना। स्वतन्त्रता से पूर्व के एक आम भारतीय संस्कारी ग्रामीण व्यक्ति के समान ही प्रारम्भिक जीवन व्यतीत हुआ। वाद में काव्य प्रतिभा विकसित होने पर वे जीवन-समाज की ऊँची सीढ़ियाँ चढ़ते गए और रचना यात्रा के कई सौपान चढ़े। इनका जन्म 29 मार्च, 1913 को होशंगाबाद के टिगरिया गाँव में हुआ। मध्य प्रदेश के प्रकृति वैभव से सम्पन्न इस प्रदेश का गहन प्रभाव उनके बाल-मन के संस्कारों में अपनी गहरी छाप वना गया, जो कवि के उत्कर्ष और विशिष्टता का एक नवीन आयाम सिद्ध हुआ। कवि के पितामह बुन्देलखण्ड में हमीरपुर कस्बे में रहते थे। वाद में वे मध्य प्रदेश चले गए और वहाँ मन्दिर में पुजारी का कार्य करके आजीविका चलाते थे। कवि के पिता श्री सीताराम मिश्र अपने भाइयों में सवसे छोटे थे। शिक्षा विभाग में निरीक्षक के पद पर काम करते थे। भवानी प्रसाद मिश्र की माता का नाम श्रीमती गोमती था, जो किसान की वेटी थीं और निरक्षर होते हुए भी धर्म-परायण एवं आस्थावान गृहिणी थीं। अत: पिता से शिक्षा-दीक्षा के संस्कार मिले तो माता से सरल किसानी एवं धार्मिक आस्था के संस्कार। आरम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। सात वर्षों तक घर पर रहकर प्राप्त किए ये संस्कार कवि के अचेतन मन की समृद्धि के कारक तत्त्व बने। इस दौरान संस्कृत के श्लोक और प्राचीन कवियों के काव्य खूब याद किए। साथ ही रहीम, गिरधर कविराय के दोहे-कुण्डलियाँ पढ़ने में रस लिया तो मैथिलीशरण गुप्त के जयद्रथ-वध तथा भारत-भारती से और माखनलाल चतुर्वेदी जी के मुक्तक काव्य से राष्ट्रीयता के संस्कार प्राप्त किए।

सुहागपुर में प्राइमरी शिक्षा प्राप्त की। नरसिंहपुर होशंगाबाद, से हाईस्कूल की परीक्षा पास की। सन् 1935 में जबलपुर के राबर्टसन कॉलेज से बी. ए. पास किया। बी.ए. करने के बाद और अधिक शिक्षा प्राप्त करना जरूरी न समझकर अध्यापन कार्य करना उचित समझा और छिंदवाड़ा हाईस्कूल में संस्कृत के अध्यापक के रूप में कार्य आरम्भ किया। बाद में पिताजी की इच्छा के अनुसार एक पाठशाला खोलकर अध्यापन कार्य करने लगे। सन् 1939 में सरलादेवी जी से इनका विवाह हुआ।

सन् 1942 में वे भारत छोड़ो आन्दोलन में कूद पड़े। गाँधी जी द्वारा चलाए जा रहे स्वतन्त्रता आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के फलस्वरूप इन्हें गिरफ़्तार किया गया और नागपुर सेंट्रल जेल में दो वर्ष, आठ माह और आठ दिन इन्होंने सज़ा काटी। 1945 में जेल से छूटने पर वे महिला आश्रम वर्धा में शिक्षक हो गए और 1950 तक यहीं रहे। इस बीच देश आज़ाद हो चुका था किन्तु कवि भवानी प्रसाद मिश्र ने कांग्रेस और देश को अपनी सेवाएँ सर्मपित कर दी थीं अत: 1950-51 के मध्य राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार की इसी लगन के कारण ही 1952 से 1955 के दौरान 'कल्पना'—हिन्दी साहित्यिक मासिक पत्रिका में सम्पादक के पद पर कार्य किया।

इसके बाद 1956-58 तक आकाशवाणी के बम्बई और दिल्ली केन्द्रों पर कार्यक्रमों का संचालन करते रहे। तदनन्तर 1958-71 की अवधि में सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय का सम्पादन-भार सँभालते रहे। इसके बाद चौबीस वर्षों तक 1961 से 1985 तक गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित 'गाँधी मार्ग' पत्रिका का सम्पादन करते रहे तथा इसी प्रतिष्ठान के प्रकाशनाधिकारी रहकर प्रकाशन सम्बन्धी अन्य कार्य भी करते रहे।

इन उक्त संस्थाओं के अतिरिक्त—विश्व समन्वय संघ; हिन्दी साहित्य सम्मेलन, दिल्ली; सिविल लिबर्टीज; साहित्य अकादमी; गाँधी भवन; आदि में भी अपनी सेवाएँ देते रहे। भारयीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद की त्रैमासिक पत्रिका—'गगनाञ्चल' के मानद सम्पादक रहे।

भवानी प्रसाद मिश्र का कवि जीवन सन् 1930 में आरम्भ हुआ जबकि उन्होंने अभी हाईस्कूल भी पास नहीं किया था, तब कलकत्ता से निकलने वाले पत्र 'हिन्दी पथ' में उनकी कुछ कविताएँ प्रकाशित हुईं। माखनलाल चतुर्वेदी जी के सम्पर्क में 1932 में आए। उन्होंने उनकी कविताओं का स्वागत किया, प्रोत्साहन दिया और अपने द्वारा सम्पादित पत्र 'कर्मवीर' में कविताएँ प्रकाशित कीं। कलकत्ता से प्रकाशित 'आगामी कल' की रचनाओं से आकृष्ट होकर 'अज्ञेय' जी ने उनकी कविताओं को 'तार सप्तक' में छापना चाहा परन्तु जेल में बन्दी होने के कारण वे अपनी कविताएँ न भेज पाए। इसी दौरान 1945 में 'हंस' (सम्पादक : अमृतराय) और 'प्रतीक' (सम्पादक : अज्ञेय) में उनकी रचनाएं प्रकाशित हुईं। 1951 में 'दूसरा सप्तक' में अज्ञेय जी ने भवानी प्रसाद मिश्र को प्रथम स्थान देकर छापा। किन्तु कवि को अत्यधिक ख्याति देनेवाला प्रथम कविता संग्रह—'गीत फ़रोश' सन् 1953 में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह के द्वारा कवि ने अपनी रचना-शक्ति और अलग पहचान से पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया, कवि-सम्मेलनों के मंचों पर भी उनके नाम की धाक जम गयी। भवानी भाई का काव्य पढ़ा जाने पर और सुना जाने पर—दोनों रूपों, दोनों परम्पराओं को निभानेवाला मुक्तछन्द में

लिखा ऐसा काव्य है, जिसकी मुक्त कण्ठ से हरेक सहृदय ने प्रशंसा की है। मुख्य कारण उनके काव्य में लोक चेतना का आग्रह है, जो बोलचाल के सहज प्रवाही मुहावरे में व्यक्त हुआ है। बुद्धि की अपेक्षा मन अधिक हावी रहा है और रागात्मकता कहीं क्षीण नहीं होती।

भवानी प्रसाद मिश्र भारतीय संस्कारों में रँगे उन विशिष्ट स्वभावों में पगे लोगों में थे जो अपने दु:ख में भी किसी को झाँकने देना नहीं चाहते और दूसरों के दु:खों को टटोल-टटोल कर अपने हिस्से में डालते जाते हैं। यों दु:खों की पूँजी तो हर कवि के पास होती है, किन्तु पराये दु:खों की सँभाल अमानत की तरह नहीं धरोहर की तरह करना उन्हें खूब आता और भाता रहा। इससे जहाँ अपने दु:ख हल्के, छोटे और कम पीड़ादायक लगे, वहीं अपने दु:खों की पूँजी की पात्रता और पवित्रता से ज्यादा उस शील की रक्षा करना कर्त्तव्य जैसा लगा, जिस शील को अलग फेंक लोग स्वयं ही मग्न हुए फिरते हैं। अपने दु:खों तक में दूसरों को न झाँकने देने का शील उन्होंने अन्त तक निभाया।

उन्हें हृदय-आघात के कई आक्रमण हुए। पेस-मेकर के सहारे जी रहे थे। जी क्या रहे थे बस यों कि मृत्यु-बोध के तार पर चल रहे थे श्वास साधे, संतुलन बनाए, किन्तु सजग विवेक ! लगातार दु:खों की अपनी-परायी आँच से द्रवित सकरुण हृदय बात-बात में छलछला आता। बात करते-करते गला भर आता और आँखें गीली। लोग कहते 'अरे ! इत्ती-सी बात पर आपकी आँखों में झर-झर-झर आँसू !' उन्हें क्या पता कि जिस बात को लोगबाग इत्ती-सी मान रहे हैं उसके छोर को उठाते ही भीतर झंकार उठी है। और अत्यन्त संवेदित तारों के झंकृत होने से, जो स्वर उठे हैं उससे 'मान-सरोवर' में कितनी-कितनी लहरियाँ तिरती हुई किनारों से आ टकरायी हैं— और लो ये छलछला आए आँसू···

प्रकृति से रागात्मक-आत्मीय सान्निध्य साधे हुए मिश्र जी कैसे-कैसे आश्वस्ती, शान्ति, सुख और प्रेरणाएँ प्राप्त करते रहे हैं कि प्रकृति उनकी कविताओं से ज़्यादा उनके आचार-व्यवहार और सोच का आधार बनी रही। ऐसा सहारा और साक्षी बनी रही कि जिसके आगे मनुष्यों की साक्षी उन्होंने स्वीकार करनी छोड़ दी थी। उन्होंने पुराना घर छोड़ा, नये घर में आए। नये घर—मकान के आँगन में जामुन का पेड़—"तांबे के-से पत्ते निकलेंगे/मेरे आँगन के इस/जामुन के पेड़ में/दो-तीन महीनों के बाद फिर/···रंग की हद तक/कोमल तो वे ऐसे थे/कि झाँकता था उनमें से उजाला/सुबह से शाम तक सूरज का/···तो बँधी हिम्मत/कि तन बदलने पर/ कितना बहुत-सा और नया/सौन्दर्य नहीं मिलेगा···" (बुनी हुई रस्सी, पृ. 111-112)

हर बड़े कवि की अन्तिम मुठभेड़ काल के साथ हुई है। कालिदास, तुलसीदास, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, निराला आदि···। भवानीप्रसाद मिश्र भी इस मुठभेड़ के अनुभव

के कई-कई प्रमाण देते हैं अपने काव्य में। अपनी रचनाधर्मिता से अपने गन्धवाही सृजन से काल को पुरस्कृत करने के प्रयत्नों का उल्लेख है, "काल के राजपथ को मैं प्रतिपल फूलों से भरता रहा हूँ।" (गाँधी पंचशती, पृ. 371) और कि इतना ही नहीं काल को पछाड़ने के अपने सृजन-संकल्पों के दावे—"सब कुछ न मैं बताना चाहता हूँ/न बताऊँगा/इस तरह मैं तुम्हें ही नहीं/अनन्त काल को भी सताऊँगा।" (त्रिकाल सन्ध्या, पृ. 142) काल से मुठभेड़ का साहस, जोखिम और चुनौती का आधार अपने युग के मानस में अपने 'स्व' को विलीन कर देने से सम्भव होता है। क्योंकि तब कवि मात्र व्यक्ति नहीं रह जाता, पूरा युग बन जाता है और युग अपनी पहचान को जल्दी क्योंकर मिटने देगा। युग-मानस में झाँकने की ताब और तहजीब दुःख, करुणा, वेदना के रास्ते से आती है। भवानी प्रसाद मिश्र का कवि इस कला को, बाखूबी समझ-जान चुका था। तभी वे अपने 'दुःखों की मेहराबों'[1] के पार समाज और देश के दुःखों को देख सके। इसीलिए शायद उनके सृजन की गति अविरल रही है कि उनके लेखे पूरे जहान के कष्ट-क्लेश-पीड़ा का खज़ाना ही खुल गया था। उन्हें अक्षय वेदनाओं के स्रोतों का ठिकाना ही मिल गया। उन्हें प्रेरणाओं के लिए कहीं दूर नहीं जाना होता था। अपने आस-पास ही फैले पसरे विस्तृत विशाल जीवन को घेरे ऐतिहासिक बीमारियाँ, महामारियाँ और लाचारियाँ उनके दृष्टिपथ में रहतीं।

वनस्पतियों, प्रकृति के विभिन्न उपकरणों से आत्मीय स्नेह की भाँति ही वे पशु-पक्षियों से भी उसी ताब में आत्मीयता रखते थे। उन्होंने विशालकाय कुत्ता पाल रखा था, जिसे वह घर के प्राणी से कहीं कम स्नेह-सँभाल नहीं देते थे। पोलर नाम के इस कुत्ते से वे इतने जुड़े रहते कि कुछ दिन बाहर रहकर आने पर उसे स्नेह-विह्वल स्पर्श देते। पोलर भी उन्हें अपनी उदासी-भरी आँखों, हरकतों से द्रवित कर देता। विनोदी ढंग से और बेबाक अपनी बात कहने में उन्होंने कभी गुरेज़ नहीं किया। स्पष्ट, दो-टूक। उनकी विनोद-प्रियता के कई-कई संस्मरण उनके समकालीनों की जुबान पर आज भी हैं। खादी के सफ़ेद धोती-कुर्त्ता और पैरों में चप्पल तथा सीधे बहाये बालों में वह एक सरल देहाती जँचते थे, प्रथम दृष्टि में। किन्तु बड़ी-बड़ी आँखों में विवेकजन्य चमक और चेहरे पर सरल-दृढ़ता पास आने-वाले को मुग्ध कर लेती। फिर उनका सम्बोधन रहे-सहे संकोच के पर्दे को हटाकर आत्मीय संवाद साधने में कारगर सिद्ध होता।

---

1. "दुःख से बनी इन मेहराबों की छाया में/मायादर्पण लगता है
कई बार मुझे मेरा मन/…अनुक्षण पार करो जितनी मेहरावें
उतने अधिक घन-से घिरते हैं/फिरते हैं ठण्डे और अँधेरे स्पर्श
जैसे अंगों पर" —(बुनी हुई रस्सी, पृ. 128)

यों उनके बाहरी और भीतरी व्यक्तित्व की अभिन्नता, उनकी कथनी और करनी की एकात्मता उनके काव्य और व्यवहार दोनों में अपनी उजास बराबर बनाए रहे। धरती और धरती के आदमी पर उनका भरोसा कभी क्षीण नहीं हुआ। आदमी पर उनका भरोसा इतना ही अगाध और अटल था, जितना 'सूरज/सारी सृष्टि के प्रति' रखता है। (नीली रेखा तक, पृ. 62) ऐसे अटल, अगाध विश्वासों वाले, वेदनाओं के अजस्र स्रोतों से जुड़े, धरती जैसे धैर्य को धारण किए सतत् जागृत-विवेक कवि थे भवानी प्रसाद मिश्र, जिनकी 'अँधेरी कविताओं' में भी आशा की रोशनी विद्यमान थी, और जो न केवल स्वयं उत्साह एवं स्फूर्ति से भरे रहते वरन् अपने पाठकों, परिजनों, परिचितों के मनों को भी आशा, उत्साह, स्फूर्ति से भर देते। तभी तो वे चुनौतीभरी भंगिमा में 'खुशबू के शिलालेख' स्थापित कर गए।

काव्य-प्रकृति और सरोकार

आधुनिक हिन्दी कविता में परिवेशगत विभिन्न प्रकार के प्रभाव लक्षित किए जा सकते हैं जिनसे अन्तार्नुशासनीय सन्दर्भ खुलते हैं। क्योंकि स्वयं आधुनिकता भी सतत् गतिशील बोध है जिसे परिवेशगत सम्बद्धता में ही उपलब्ध किया जा सकता है। देश-काल के अतिरिक्त सतत् विकसित चेतना के विभिन्न आयामिक रूप भवानी भाई के काव्य में बखूबी आकार ग्रहण किए हुए उपलब्ध होते हैं।

भवानी की कविता अधिकांशत: और निश्चयत: विषय प्रधान है। उन्हें कबीर की तरह कथनी के दबाव ने लिखवाया। जहाँ पर कथ्य का तनाव गहराया है, रचना अपने समकालीन मुहावरे में विचार-संवेदना-कल्पना के संरचनात्मक संयोजनों को जीती है। कसौटी पर खरी उतरती है। वह महज बैठे-ठाले भाषा को खाद बनाते जाने का साधन नहीं। तनाव के गहन दबावों के न रहते जो कुछ कहीं कहने के लिए कहा गया है, वहाँ रचना अपनी धार और मार ही नहीं अपना तेज भी मन्द होने से निराश करती है। किन्तु यह निराशा कला-कसौटियों पर उन्हें कसने की दृष्टि से है, विचार को तनावी सृजन क्षणों की दाब से न गुज़रने देने की उस सामयिकता के कारण हैं, जो तत्काल कह देने की ज़रूरत से पैदा होती है। समकालीन कविता कथन को, सपाट बयानी को, बयान को तरजीह देती है तत्काल के अन्तर्गत, किन्तु पीछे के स्वयं के संवेदनात्मक तनाव में गुज़रने, रचना को गुज़ारने की शर्त के चरितार्थ होते हुए, जिससे बयान में अनिवार्य काव्य तत्त्वों के—सृजन के आयामों के अवतीर्ण होने से कथन सृजित हो सके। उसमें कवि व्यक्तित्व के अन्त:स्पर्शों से अनिवार्य कलात्मक आयाम जुड़ सकें। किन्तु भवानी भाई को कहना है और तत्काल कहना है। इतना ही नहीं, त्रिकाल कहना है—(त्रिकाल संध्या) प्रार्थना की तरह। ईमान की तरह। धर्म की तरह। कर्त्तव्य की तरह। वे चुप कैसे रह जाएँ। अनुभव को लेकर सृजन क्षणों की प्रतीक्षा में जाने की बजाय, वे दखल देने की पहल को चुनते हैं।

भवानी व्यक्तिगत कुछ भी ऐसा नहीं मानते जो रचा जाकर गोपनीय या अत्यन्त निजी माना जाए। उनका निज इतना व्यापक है, जिसमें वह सब जो निज से बाहर कहलाता है, समाया हुआ है। छद्म, गुप्त, गोपन ! मुक्तिबोध ने रचना के तीन क्षणों की बात की है और अज्ञेय ने भी रचना-प्रक्रिया के अन्तर्गत रचनात्मक

अनुभूति में परिणत होने में प्रतीक्षा को अनिवार्य बताया है।

रहस्य, निजी कुछ भी नहीं उनके काव्य में। दूसरे अर्थों में उनका रचना-संसार बाहरी संसार को उन हदों तक आत्मसात किए है, जिन हदों तक उनका आत्म-विस्तार या संवेदना-विस्तार है। 'व्यक्तिगत' की भूमिका में उन्होंने लिखा है, "वैसे व्यक्तिगत क्या है, मैं खुद व्यक्तिगत नहीं हूँ तो मेरी कविताएँ क्या होंगी?...व्यक्तिगत से व्यक्तिगत कविता की आत्मा सामाजिक है; सामाजिक ही नहीं जागतिक है।" क्योंकि भवानी गाँधीवादी विचारधारा में निष्ठा रखनेवाले लड़ाकू सैनिक हैं इसलिए गाँधी जी के विचाराधार-विश्वमानव की मुक्ति का स्वप्न के अनुरूप ही उनकी कविता जहाँ जागतिक है, वहाँ तत्काल अपनी प्रतिक्रिया जतलाने या हस्तक्षेप करने के लिए भी नियतिवद्ध है। अपने इसी उद्देश्य को चरितार्थ करने के लिए वह 'अनुभूति' के जागृत होने की काव्य-प्रक्रिया को—'अनुभूति की प्रामाणिकता' की अवधारणा को जो 'अज्ञेय' एवं नये कवियों के लिए प्रमाण हैं, न अपनाकर 'शब्द' से जुड़ते हैं। शब्द, जो ब्रह्म है। वह 'अर्थ की लय' वाली अवधारणा को भी तरजीह नहीं देते शब्द की लय को स्वीकारते हैं। साथ ही, 'काव्य-मुहावरे' को अपनाते हैं :

"कलम अपनी साध
और मन की बात बिलकुल ठीक कह एकाध।
यह कि तेरी भर न हो तो कह
और बहते बने सादे ढंग से तो बह
जिस तरह हम बोलते हैं, उस तरह तू लिख
और इसके बाद भी हमसे बड़ा तू दिख।"[1]

मन की बात कहना वह भी कलम को साधकर, और इस पर भी एकाध ही कहना। फिर वह बात जो सिर्फ़ कवि की न हो, यानी अनिवार्यतः दूसरों की होना उसकी शर्त है; तो ही उसे कह, फिर सादे ढंग से सहज आवेगी गति में बहना (रमना) हो सके तो बह (कह) इसके बावजूद अपने सृजन में बड़ा दिखने की बड़ी शर्त। ये सब शर्तें उन्होंने स्वयं अपने लिए गढ़ी हैं। अपने पर लागू की हैं। यह उनके काव्य का शील भी है और शैली भी। इसी क्रम में उन्होंने 'सोची हुई अभिव्यक्ति'[2] दिशा नहीं अपनायी; भावावेगी, संवेदना-प्रवाही दिशा अपनायी है :

---

1. गीत फ़रोश, पृ. 1
2. चकित है दुःख, पृ. 80

"शब्द टप-टप टपकते हैं फूल से
सही हो जाते हैं मेरी भूल से।"[1]

गन्ध-विह्वल पूर्ण खिले फूलों जैसे स्वत: टपकते, अनायास उतरते शब्दों के वह माध्यम थे तो ऐसे मनस्वी के शब्द अपनी अनायासता में 'सही' क्यों नहीं हो जाएँगे?

क्योंकि भवानी गाँधी-विचार में सारी जीवन्त भारतीय परम्परा को लक्ष्य कर सके हैं इसलिए उनके काव्य में भारतीय जीवन और दर्शन—दोनों की अद्भुत उत्सर्गमयी निष्ठा का स्वर आद्यन्त श्वास की तरह व्याप्त है। उनके काव्य की यह विशेष धुरी भी मानी जा सकती है। यही उनका काव्यादर्श भी है :

"भारत ने कविता को मंगल कहा है सदा
कविता की धारा में मंगल बहा है सदा।"[2]

कविता, जोकि आत्मा की—चेतना की कला है और भारत की तथा भारतीयता की पहचान भी; चैतन्य को रेखांकित करने वाली दृष्टि में निहित है; इसलिए कविता चाहे "दु:ख की हो या हर्ष की हो। पल की हो या वर्ष की हो।"[3] वह निश्चयत: मंगल ही होगी। इस गहन निष्ठा की धुरी पर टिकी कविता में भवानी की भीतरी-बाहरी लयें एकसाथ सम्मिलित होकर बज उठें तो आश्चर्य मिश्रित सुख उत्पन्न होता है, जिसमें रुकना, ठिठकना नहीं, वह जाना घटित होता है। गाँधीवाद और भारतीयता अपने ठेठ रंगों, गतियों, बनावटों में एक-दूसरे के पर्याय हैं तो इन विशेष अर्थों में कि व्यक्ति की स्थिति, नियति और मुक्त वृहत्तर समाज से नाभिनालबद्ध है। व्यक्ति की मुक्ति का आधार अलग है ही नहीं। भवानी भी इस मूलमन्त्र के साधक हैं। उनकी कविता इसलिए मात्र शरीर नहीं वह मात्र आत्मा भी नहीं। वह अध्यात्म है; जिसमें आधि और आत्मा दोनों का सहज संयोजन है :

"कविता टिकेगी
क्योंकि
कोई शरीर नहीं है वह मेरा
वह मेरी
आत्मा ही नहीं
अध्यात्म है।"[4]

---

1. दूसरा सप्तक, पृ. 7
2. गाँधी पंचशती, पृ. 34
3. वही, पृ. 34
4. इदम् न मम्, पृ. 116

यह अध्यात्म ही सचमुच में कसौटी है उनके काव्य की। शब्द जहाँ फूल बन खिलते हैं उस मन की सहज परिणति मानसर के रूप में होना स्वाभाविक है :

फूल लाया हूँ कमल के
क्या करूँ इनका ?
पसारें आप आँचल
छोड़ दूँ
हो जाय जी हल्का
ये कमल के फूल
लेकिन मानसर के हैं
इन्हें हूँ बीच से लाया
न समझो तीर पर के हैं।

'मानसर'—व्यक्ति मन नहीं—वृहत्तर सामाजिक और सामूहिक चैतन्य मानस है, जिसके बीच में खिले फूल हैं ये-ये कविताएँ। ये मात्र उस मानसर के तट पर के फूल नहीं हैं। इन्हें सहेजने का सलीका भी भारतीय गाँव-देहात का ठेठ देसी है—'आँचल पसार' कर लेने का। ये फूल आँचल पसार कर ही सहेजे जा सकते हैं। यानी हृदय से हृदय के आयामों की बात है। बौद्धिकता से बौद्धिकता के नितान्त आधुनिकता-वादी शहरी सलूक या बर्ताव नहीं।

अपने प्रकृति-परिवेश और लोकोन्मुखी संवेदनशीलता की विशिष्ट आधारभूमि पर मानवीय चेतना एवं चिन्तना की सुगन्धित लिपियों में कवि अमिट लेख लिख सका है ! उन्हें उपार्जित ज्ञान का हेतु न मानकर माँ के गर्भ में ही उपलब्ध संस्कारों को मानता है। इससे कवि का अपनी संस्कृति, विरासत, वैचारिकता के प्रति सरोकार भी प्रकट होता है और बोध भी। अनुभूति की संघटना और प्रकृति को समझने का द्वार भी खुलता है और उसके दाय की कसौटी भी सम्भव होती है। जागृत विवेक, सजग चेतना, आत्मिक सुगन्ध के विविध खिले फूलों के ठिकानों तक पहुँचना आसान हो जाता है :

एक सुगन्ध के बल पर
जी रहा हूँ मैं
सुगन्ध यह कदाचित्
गर्भ में समझे हुए
परिवेशों की है
छूटे घने किन्हीं केशों की है

आम के वन की है
आषाढ़ के नये घन की है।[1]

प्रकाश और सुगन्ध व्यक्तित्व की सकारात्मक समृद्धि और पूर्ण-विकास के आयाम हैं। इनके प्रतीकार्थ सभ्यता और संस्कृति के उच्च स्थापित आदर्शों को सूचित करते हैं। जब कोई कवि या व्यक्ति अपनी सर्जनात्मक प्रेरणा के रूप में आत्मिक-चेतनात्मक सुगन्ध का आधार उपलब्ध कर लेता है तो मानना चाहिए कि वह अपनी बोधगत परिपक्वता के आयाम पा गया है।

फिर इस सुगन्ध के संवेदनागत आयाम खुलते हैं कि यह सुगन्ध कहाँ, किन परिवेशों की संवेदनाएँ सहेजे हुए हैं ? कवि स्वयं उत्तर देता है—"कदाचित्, गर्भ में समझे हुए/परिवेशों की है।" यहाँ या ऐसी स्थिति में कोई भी रचनाकार स्पष्ट कभी हो नहीं सकता। क्योंकि अनुभूति के ये क्षितिज इतने धूमिल, अलक्ष्य, अदृश्य होते हैं कि उनका मात्र एक गूँगा अहसास ही होता है। उनका गोपन संकेत ही राह दिखाता है। इनका अलक्ष्य इंगित ही लक्ष्य की ओर मोड़ता है। इसलिए 'कदाचित्' के अलावा कुछ सुनिश्चित नहीं कहा जा सकता। किन्तु इसके बाद परिवेशों को स्पष्ट बताया जा सकता है। क्योंकि यह सुगन्ध मानसिक बनावटों को नियन्त्रित करनेवाली है, पूरे काव्य व्यवहार को साधे हुए है, इसलिए यह तो निश्चित रूप से माँ के गर्भ में जगे बोध के स्वरूपवाली है। अभी भी विषय पूरा मूर्त नहीं हुआ। उन्हें कुछ अप्रस्तुतों द्वारा मूर्त करना अभीष्ट रहा है :

"छूटे घने किन्हीं केशों की खुशबू।"

'आम के वन' की सुगन्ध, 'आषाढ़ के नये घन' के बरसने से धरती में उत्पन्न सोंधी, पगला देनेवाली गन्ध से उपमित कर कवि मूर्त करना चाहता है उस प्रेरणा-दायी सुगन्ध को। ये तीनों उपमान अपने आप में गहन मानसिक आकर्षण एवं बंधन के उपकरण हैं। इस विश्लेषण के बाद हम कवि के प्रेरणास्रोत के निकट पहुँच जाते हैं, 'गर्भ में समझे हुए परिवेशों की गन्ध' होने से लोक, संवेदना, नैसर्गिक सौन्दर्य, मानवीय सम्बन्ध के साथ कवि की आत्मबद्धता ही प्रकट नहीं करती बल्कि उसके शैली, शिल्पगत व्यवहार में विशिष्ट बनकर उभरी उसकी कथ्यगत सरलता, सहजता को भी प्रमाणित करती है। एक अन्य उदाहरण लें :

"आत्मा को
सिवा आदिम सुगन्धों के

---

1. खुशबू के शिलालेख, आरम्भिक

कौन बचा सकता है—
धूल और धुएँ में
डूबने से।"

(खुशबू के शिलालेख, पृ. 122)

'गर्भ में समझे हुए परिवेशों की सुगन्ध' के बल पर इन्द्रियों की पहली मूल पहचानों की याद जो बालकों को गर्भ में मिलती है, दुनिया में आकर उसी, उसी याद को विकसित करता हुआ कवि अपने मूल और बचपन की रागात्मकता को और भी समृद्ध करता है। अर्जित ज्ञान के कारण प्रकृति से दूर नहीं निकल गया, बल्कि आग्रहपूर्वक अपने पुराने रिश्तों को तलाशता वह नयी गहरी पहचान स्थापित करता है। भारतीय और हिन्दू जीवन दर्शन में 'गोत्र' का आत्मिक, जन्मान्तरों का सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है। देखिये, भवानी भाई ने अपने कैसे गोत्रीय रिश्ते बना लिए हैं :

"फूल कोमल स्वच्छ तारा और पानीदार मोती
ओस चंचल अचल पाहन हैं तुम्हारे सभी गोती।"

(गीत फ़रोश, पृ. 14)

यहाँ कोमल फूल, स्वच्छ तारा, पानीदार मोती चंचल ओस, अचल पाहन से अपने गोत्र (गोती) के रिश्ते ढूँढ़ निकाले हैं उसने, क्योंकि 'इनसे उसने कुछ लिया भी है और कुछ दिया भी है।' यह आदान-प्रदान है।

भवानी प्रसाद मिश्र प्रकृति से आत्मीय लयों तक आत्मसात थे। उनका सारा काव्य इस बात का प्रमाण है कि ग्रामीण एवं वन्य प्रकृति उनके व्यक्ति के तथा उनके काव्य के आदर्श थे तो बाद में उसमें गाँधीवाद ने अभिवृद्धि कर एक महापथ बना दिया। कुल मिलाकर प्रकृति और गाँधीवाद उनके काव्य की स्थायी टेक है। यह अचानक नहीं हुआ। उनके जन्म से प्रथमतः जो संस्कार उनके अवचेतन तक उतर गए, जिनसे उनका काव्य-मानस बना, सम्पन्न और विकसित हुआ, वे प्रकृति के विविध आयामी परिवेश से बने थे। इस परिवेश में एक नदी थी—गति का आयाम; पहाड़ था—ऊँचाई का आयाम; जंगल थे—गहन वानस्पतिक आयाम; गाँव की एक संयुक्त ऊष्मित पारिवारिकता; सम्बन्धों की बनावट और लगाव के आयाम[1] इन सबके बावजूद गाँव के साधारण परिवार के व्यक्ति की वह विशिष्ट

1. "छोटी-सी जगह में रहता था, छोटी-सी नर्मदा के किनारे, छोटे-से पहाड़ विन्ध्याचल के अंचल में, छोटे-छोटे साधारण लोगों के बीच साधारण मध्यवित्त परिवार में पैदा हुआ, साधारण पढ़ा-लिखा और काम जो किए, वे भी असाधारण से अछूते मेरे आसपास के तमाम लोगों की-सी सुविधाएँ-असुविधाएँ मेरी थीं।"—(दूसरा सप्तक) सम्पा. अज्ञेय, पृ. 3

मानसिकता जो प्रत्येक वस्तु से सीधे छू-देख-परखकर अपना निजी सम्बन्ध बनाती है और स्मृतियों में सहेजकर उसे निभाती है; ऐसी मानसिकता भवानी भाई को प्राप्त हुई, जिसे वह गर्व से अपनाये रहे, विकसित करते रहे।

किन्तु यहीं यह जोड़ना ज़रूरी होगा कि उनके द्वारा दिए गये विशेषणों—छोटी-सी, छोटे-से, छोटे-छोटे साधारण, साधारण—आदि के क्रम और टेक में कुछ आलोचक कवि भवानी को छोटा, साधारण और सामान्य मानने की सुविधापूर्ण कोटि में डालने लगते हैं; किन्तु सच यह है कि वे वेजोड़, विशिष्ट, असाधारण रूप में असामान्य कवि थे। उनकी सहजता भी उन्हें सामान्य-जन का कवि तो बनाती है किन्तु उनके सहजता, सरलता, वोधगम्यता, संप्रेषणीयता के गुण—उन्हें अपने समकालीनों में विशेष, अलग और असाधारण बनाते हैं।

उनकी काव्य-शैली वाचिक परम्परा की है। वह कविता के लिखने के वाद उसे बोलकर साधते थे कि वह सुनने में कैसी लगती है। अपनी कविता में बोले हुए शब्द की शक्ति पर वह आश्वस्त होते थे, कविता को मात्र लिख लेने से नहीं। इस सम्बन्ध में उनका स्वयं का कथन है :

> "लिखना आखिरकार मेरा वोलना है। मैं जो लिखता हूँ उसे जव बोलकर देखता हूँ और वोली उसमें बजती नहीं है तो मैं पंक्तियों को हिलाता-डुलाता हूँ। बोलचाल हिन्दी की मेरी ताक़त है।"[1]

वस्तुत: जन के निकट जाने, उनके सुख-दु:ख को उन तक पहुँचाने के संकल्प ही कवि को भाषायी सहजता और बोलचाल के मुहावरे को अर्जित करने में प्रेरक रहे हैं। डॉ. शिवप्रसाद सिंह के शब्दों में, "भवानी मनमौजी, फक्कड़, आशावादी, हँसते-हँसाते चलनेवाले सैलानी कवि थे। उनकी कविताओं में एक अजीब गरमाहट, गुदगुदी और गवरूपन है जिसने भवानी को भीड़ से अलग कर दिया। वैसे भी जब इन्सान अकेले में पड़ता है गुनगुनाता है, पर भवानी हमेशा अन्धकार और अकेलेपन से लड़नेवाले कवि रहे हैं। उनकी कविताओं में नर्मदा के जल में झिलमिलाती चाँदनी ही चाँदनी रही, या कहना चाहें तो कह लें कि उनकी भाषा ने सदा ही माहेताबी जलाई है, छोटी-मोटी फुलझड़ी छोड़नेवालों से उनकी कोई तुलना नहीं।"[2] यह अतुलनीय गुणवत्ता उनमें इसलिए विकसित हुई क्योंकि जन के अन्धकार और उत्पीड़न के साथ उन्होंने अपने अन्धकार और उत्पीड़न को एकाकार करके देखा। इसी वजह से उनके काव्य में चेतना की उजास सूर्य के ताप की तरह भास्मान हुई,

---

1. बुनी हुई रस्सी, भूमिका
2. कालजयी, ले. हरिमोहन, पृ. 135

एक 'अजीब गरमाहट' भी पैदा हुई। जब तक कोई कवि स्वयं दहकते ज्वालामुखी के मुहाने पर स्थित न हो, तब तक कविता में यह गरमाहट उत्पन्न होना सम्भव नहीं होता, विचारों में धार नहीं आती और भाषा में रवानी नहीं आ पाती। "मैं कविता नहीं लिखता, कविता मुझको लिखती है।"[1] और यह स्थिति तभी उत्पन्न-विकसित होती है जब कवि की शिराओं में विषय रक्त-प्रवाही स्थिति को प्राप्त हो जाए। विषय और विषयी का अन्तर समाप्त हो जाए। उन्होंने जिस भाषा के अर्जन की कामना की वह उन्हें मिली।[2] और जिस काव्यादर्श की कल्पना की वह चरितार्थ हुआ।

सच्चे सृजन के आयाम चिन्तन के आयामों के साथ खुलते हैं, और चिन्तन भीड़ में या सामूहिकता के बोध में सम्भव नहीं! सामूहिक चिन्ता, चिन्तन का कारण या आधार हो सकता है, सृजन-प्रक्रिया का आधार नहीं। विश्व में सृजनकर्ता सदा अकेला होता आया है, अपने अनुभव में। अपने चिन्तन क्षणों में। तभी सृजन सम्भव हुआ है। अकेले होने के क्षणों में अपने भीतर की क्षमताओं की पहचान पैदा होती है। इसी आधार-स्थली पर एक ही देश-काल में रहते हुए सर्जकों के सोच, व्यवहार और सृजन में भिन्नताएँ उत्पन्न होती हैं। निजी व्यक्तित्व झलकते हैं। भवानी प्रसाद मिश्र का कवि इन अनुभवों से गुजर कर ही सम्पन्न और ऊँचे काव्य-स्तरों पर पहुँचा है। उन्हीं के शब्दों में, "यों अकेला पड़ जाना सारे अनुभवों का राजा है।"[3] परन्तु जो इस अनुभव को अपने अकेलेपन में समझ नहीं पाते और समझकर उपयुक्त अभिव्यक्ति नहीं दे पाते वे अकेले ही रह जाते हैं। उनके सृजन सबके सृजन नहीं बन पाते। वस्तुतः "अकेला पड़ जाना एक उत्सव है।"[4] अकेलापन उत्सव बनता है चिन्तन के धरातल पर, अनुभूति के स्तर पर। "जो अपने चिन्तनात्मक अनुभूति क्षणों को उपलब्ध नहीं कर पाता वह सदा अकेला ही रह जाता है, किन्तु जो उसे (अकेलेपन को) किन्हीं माध्यमों के द्वारा अभिव्यक्त कर पाता है वह अकेलापन नहीं परोसता उत्सव परोसता है।"[5] कहना न होगा कि स्वयं कवि अपने काव्य के माध्यम से उत्सव परोसने में सफल हुआ है। अपनी एक अलग पहचान और विशिष्टता भी बनाये रख सका है।

---

1. बुनी हुई रस्सी, पृ. 7
2. मैंने जिस भाषा को दुलारा था उसे इस संग्रह के माध्यम से मुकुट पहना रहा हूँ।"—**बुनी हुई रस्सी**, पृ. 12
3. बुनी हुई रस्सी, प्रथम शस्ति पर
4. वही
5. वही

अत: भवानी प्रसाद मिश्र के वैशिष्ट्य को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है—भवानी भाई उतने परम्पराभंजक नहीं, जितने प्रगतिशील हैं। उतने बौद्धिक नहीं, जितने भावनाप्रवण हैं। उतने चिन्तक नहीं, जितने आस्थावान हैं। उनमें एक अजस्र रवानी है, जो अज्ञेय में नहीं, उनमें ऐसी इतनी सादगी-सहजता है, जितनी मुक्तिबोध में नहीं। इसलिए उनमें भाषाविद् की विद्वत्ता और कौशल नहीं, भावमय मन की पूर्ण सहज समर्पणता है।

गाँधीवादी विश्वासों में निष्ठा

भवानी प्रसाद मिश्र एक अटूट और अकूत विश्वास के धनी कवि रहे। घोर निराशा की घड़ियाँ—व्यक्तिगत जीवन की हों या समाज और देश की, वे अविचलित रहे हैं। अविचलित इन अर्थों में कि हल, समाधान प्रकाश, उल्लास, विजय भी कहीं आसपास है और निश्चित है। चाहे महात्मा गाँधी जी के नेतृत्व में लड़ा जा रहा स्वतन्त्रता संग्राम हो, 15 अगस्त, 1947 की भारत की स्वाधीनता की घोषणा हो, या गाँधी जी का बलिदान, भारत पर चीनी आक्रमण हो या नेहरू जी का देहावसान—इन सभी महाघटनाओं को अपने काव्य में दर्ज करता हुआ कवि सदा शोक या उल्लास में, आशा का पल्लू कहीं नहीं छोड़ता। यह एक ऐसा तत्त्व है भवानी भाई के काव्य में, जिसके माध्यम से हम कवि के जीवन और लोक में अगाध विश्वास को रेखांकित कर सकते हैं। 'गाँधी पंचशती' में तिथिवार दी गयी कविताएँ, इन महाघटनाओं और अन्य महत्त्व की घटनाओं में यह आशा-विश्वासवादी दुर्लभ स्वर सुरक्षित रखे हुए हैं। यह अगाध अक्षत विश्वास गाँधी जी और उनके विचारों की भित्ति है, मूलाधार है, जो गाँधीजी ने भारत के धर्म-अध्यात्म की अपनी शोध से उपलब्ध किया और फिर निश्चल हो गए। उनके साथ जुड़ने-वाले, उनके अनुयायी भी उक्त विचारों को आस्था की चरम सीमाओं तक अपनाने और निबाहने लगे। भले ही उनकी गिनती बहुत कम थी। इन कुछ आस्थावान लोगों में भवानी भाई भी थे, जिन्होंने गाँधी को देवतुल्य और गाँधीवाद को अमोघ अस्त्र मान लिया।

बाद में भी भवानी भाई के काव्य में, जयप्रकाश नारायण के समाजवाद में जो निष्ठा व्यक्त हुई है, वह गाँधीवाद का ही प्रक्षेपण मानना चाहिए क्योंकि जयप्रकाश, जिस भारतीय समाजवाद के पोषक-प्रवर्तक माने जाते हैं, उसमें अन्तर मात्र सक्रियता और साधन की धनात्मक प्रणालियों का है, हिंसक तो नहीं ही है वह। भारत में सन् 1975 में घोषित आपात्काल के विरुद्ध अपने आन्दोलन के नेतृत्व से उस तथ्य को जयप्रकाश ने सिद्ध भी कर दिया था। इसे उन्होंने स्वीकार भी किया है, "पर मैं कोरा गाँधीवादी नहीं हूँ—मेरे चिन्तन पर अन्य प्रकार के अनेक विचार प्रभाव, कार्य करते हैं—मेरी निष्ठा गाँधी के बाद इधर जयप्रकाश

नारायण में रही है।"[1] परतन्त्रता के अधिकार से निजात पाने की छटपटाहट में गाँधी को सम्बोधित करते हुए कवि कहता है :

"तुम्हें देवता कहें तो तुमने
पलपल पर संघर्ष किया है जो मानव बनने का अपने
अहोरात्रि जागृत प्राणों से
क्रिया-राशि को सहज समन्वित करके ढाले हैं जो सपने···
द्वार-द्वार पर अलख जगाया है तो तुमने
·········
तुम कोई देवता नहीं हो
शक्ति नहीं होती देवों में
एक साथ इतना देने की।"[2]

गाँधी देवता नहीं, देवतुल्य हैं। वस्तुतः महामानव हैं। जन में उनके अकूत विश्वास का यह फल है कि 'फिर से बुझी-बुझी आँखों में जोत भरी है' और कि इन्कलाब की वाणी में मुखरित हो उठा है पूरा देश, छुआछूत भागी और नवशुचिता जागी है तो ये सब मिलकर उन्हें महामानव सिद्ध करते हैं। गाँधी के इस कार्य की महत्ता को सिद्ध करती उनकी ये पंक्तियाँ :

"नये सूर्य को नये तूर्य को अनुक्षण समझो,
गाँधी के रण को साधारण मत समझो।"[3]

क्योंकि गाँधी भारत के लिए ही नहीं, समूचे विश्व के लिए मुक्ति का मार्ग दिखानेवाला, अहिंसात्मक संघर्ष की चेतना जगाकर विश्व के पराधीन देशों में प्रेरणा भरनेवाला अकेला-अनोखा व्यक्ति है, इसलिए वह वंद्य है। उसे समझने से, उसके विचारों के आशयों तक जाने और अनुसरण करने से हम लक्ष्य पा सकते हैं। अतः गाँधी साधारण में असाधारण हैं।

गाँधीवाद से समाजवाद तक

भवानी प्रसाद मिश्र के विचारों का क्षितिज वहुत विस्तृत है। इसमें, पृष्ठभूमि

1. अन्तरंग साक्षात्कार—डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल, पृ. 36
2. गाँधी पंचशती, पृ. 31-32
3. वही, 40-41

के रूप में देखें तो भारतीय जीवन-लोक जीवन के विश्वास और शक्ति है तो अद्वैतवादी अध्यात्म दर्शन[1] की छवियाँ विद्यमान हैं, किन्तु आधुनिक युग के विचारों में गाँधीवाद और समाजवाद उनके समूचे काव्य में दो ध्रुवों की तरह नहीं दो पगों की तरह विद्यमान हैं। 'गाँधी पंचशती' उनके काव्य का पहला प्रस्थान या पड़ाव है, तो बाद में भारतीय समाज की, लोक की उत्तरोत्तर बढ़ती दुर्वस्था से विह्वल वे जयप्रकाश नारायण द्वारा चलाए गये मुक्ति आन्दोलन के एक सैनिक की तरह नज़र आए। तब वे गाँधीवाद से आगे निकल गए, मुड़कर नहीं देखा। इतना ही नहीं, इस काल में सन्त विनोवा भावे के कुछ कथनों की—'अनुशासन पर्व' आदि की हँसी तक उड़ाते हैं। "दुःशासन को अनुशासन पर्व कहो तो ठीक"[2] इतना ही नहीं, आपात्‌काल में वे तीखे व्यंग्य और क्रोध से भर गए थे कि विचारों की धार और व्यंग्य की मार से उनकी कविता हर किसी पर बरस पड़ती :

"खून रँगे चीर
मत पहनो
ओ
सफ़ेद—जल धाराओं की
बहनो !"[3]

'खादी का रिश्ता' नाम की कविता में वे गाँधीवादी विचारों को माननेवाली बहनों को सम्बोधित कर कहते हैं, "मैंने/तुम्हारी स्वच्छता के कारण/सागर-संगम तक/तुम्हारे साथ बहना तय किया था/किन्तु अब के इस दौर में तुम्हारे ये सफ़ेद चीर रक्त से रँग गए हैं/इन्हें मत पहनो।" इतना ही नहीं खादी का माध्यम बनाकर आज गाँधी और उसके मूल्यों का जो दोहन हो रहा है—दुरुपयोग हो रहा है। उसे अनावृत्त करते हुए कवि ने लिखा है :

"बैठकर खादी की गादी पर ढलती हैं प्यालियाँ
और जब चढ़ जाता है नशा भाषण होते हैं अंग्रेज़ी में
ज़ोर ज़ोर से बजती हैं तालियाँ।"[4]

---

1. "दर्शन में अद्वैत, वाद में गाँधी का और टेकनीक में सहज ही मेरे लक्ष्य बन जाएँ ऐसी कोशिश है।" दूसरा सप्तक, (सं.) अज्ञेय, प्रगति प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1951, पृ. 7
2. त्रिकाल संध्या, पृ. 120
3. वही, पृ. 44
4. गाँधी पंचशती, पृ. 337

इस प्रकार गाँधी, खादी और भाषा-हिन्दी से विमुख लोग इनका कैसा स्वार्थी और जन-विरोधी उपयोग कर रहे हैं, कवि ने गाँधीवादी मूल्यों के इस ह्रास को यहाँ अपने व्यंग्य-प्रहार का लक्ष्य बनाया है। खादी मात्र वस्त्र नहीं, समूची विचारधारा है, सादगी, श्रम और राष्ट्रनिष्ठा की त्रिवेणी है, जिसमें नहाकर देश स्वतन्त्रता देवी को पा सका। जो समूचे राष्ट्र के लिए मुक्ति का मार्ग है। उसी खादी, स्वदेश प्रेम, स्वतन्त्रता और मुक्ति-भावना के साथ आज यह बर्ताव !

गाँधी पंचशती में ही 'मैं बुला रहा हूँ' (15 जून, 1958) कविता में उनका स्वर अधिक कठोर और तिक्त हो गया है। क्योंकि गाँधीवाद उपायों—सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह से आगे जाकर प्रखर जन-आन्दोलनी उपायों की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। इस कविता के अन्त में :

"तुम मेरे पुकारने पर नहीं आओगे
तो समझ रखो मुँह की खाओगे
मैं कोई विरही कवि नहीं हूँ
मैं निरर्थक कोई छवि नहीं हूँ
मैं ज़माना हूँ सब मेरे साथ हैं।
....
कि मेरे सिर्फ़ वाणी नहीं है मेरे हाथ भी हैं
जो पुकार पर नहीं आएगा वह पुकार की दिशा में खींचा जाएगा
यह परिस्थिति अच्छी नहीं है
न मेरे लिए न तुम्हारे लिए।"[1]

वाणी के बाद 'हाथों' का प्रयोग करने और 'पुकार की दिशा में खींचा जाएगा'; से स्पष्ट है कि ज़बरदस्ती, इच्छा के विरुद्ध उन लोगों को खींचकर असली राह पर, जो जनता की है, उस ओर लाया जाएगा और जबकि कवि को इस बात का भान है कि 'यह परिस्थिति अच्छी नहीं है' किसी के लिए। कविता की अन्तिम पंक्ति—अभी मैं तुमको सिर्फ़ बुला रहा हूँ !—यह साफ कर देती है कि अन्त में, बुलाने पर न आने पर, लोगों द्वारा—हाथों द्वारा खींचकर तुम लाए जाओगे ! तो कहना न होगा कि 'गाँधी पंचशती' (1969) के छपने तक भवानी प्रसाद मिश्र गाँधीवाद से आगे जा चुके थे। बाद में सक्रिय समाजवाद—जयप्रकाश नारायण का समाजवाद—की देहरी पर आ पहुँचे थे। देश की समकालीन स्थितियों को देखते जयप्रकाश नारायण के समाजवाद का नारा था (आठवें दशक में) कि यदि जनता नेता से

---

1. गाँधी पंचशती, पृ. 227-228

सन्तुष्ट न हो तो उसे हक है कि वह अपने प्रतिनिधि को वापस बुला सकती है। आन्दोलन द्वारा उसे वापस आने को बाध्य कर सकती है। गाँधी पंचशती में गाँधी को, उनके उसूलों को, कवि ने स्थूल रूप में नहीं, बल्कि भाव, भावना, चेतना माना है। या फिर व्यवहारगत-आचरण में गाँधी की सरलता, सादगी, नैतिकता, दृढ़ता, निर्भयता, न्याय प्रियता आदि गुणों का ऐसा पुन्ज माना है जो आदर्श है, अनुकरणीय है। क्योंकि वह मात्र देह नहीं, आत्मा है। आत्मा की तरह सूक्ष्म है। दुःख को आर-पार देखने और शान्त रहनेवाले और शान्त रहकर दुःख को सहनेवाले व्यक्ति थे गाँधी जी, और "जीवित ऐसे ही व्यक्ति को कहना चाहिए। गाँधी ऐसा ही आदमी था और इसलिए। न रहकर शरीर में आत्मा हो गया है। शरीर उसका खो गया है मगर वह नित्य वर्तमान है।"[1] गाँधी के इस पक्ष को कवि समाज के लिए प्रेरक और स्पृहणीय पाता है। गाँधी युगों-युगों से सोयी हुई, दलित और शोषित मानवता की वाणी है।

इतना ही नहीं 'गाँधी पंचशती' की प्रथम कविता, भूमिका सदृश्य रखी हुई जो कुछ कहती है उसमें हमारे वर्तमान और भविष्य के लिए सन्देश रखा हुआ है :

> "गाँधी त्योहार तो मनेगा तब जब आज और आगे के माथे से
> छोटी बड़ी क्रूरता का कलंक धुल जाएगा
> जब धरती पर हर जीव के निर्भय और समंजस
> जीने का द्वार खुल जाएगा।"[2]

गाँधी के बाद भी उसके वैचारिक प्रभाव की सार्थकता इस दुनिया से हर प्रकार की क्रूरता और कलंक दूर करने में, भय को दूर करने में है। और कवि की कविताएँ : "यह तो एक आवाज़ है अँधेरी रात के कोलाहल में/कोलाहल से ऊपर उठकर कुछ करनेवालों को पुकारनेवाली।"[3]

अतः गाँधीवाद के और उसके प्रति समर्पित भाव रखनेवाले इस कवि के सरोकार जीवन की सम्पूर्णता और विश्वमानवता में आस्था रखनेवाले हैं।

क्योंकि गाँधीवाद एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन है और जीवन व्यवहार है, जिसे गाँधी जी ने कर्म-व्यवहार से सिद्ध किया है इसलिए इसमें अपने को बार-बार जाँचते-परखते चलने की—आत्मालोचन की प्रक्रिया भी चलती रहती है। भारतीय लोग अभी भी पुरातन उच्च विचारों से इतना नहीं कटे, जितना उन विचारों के

---

1. गाँधी पंचशती, पृ. 353
1. वही, पृ. 6
2. वही, पृ. 6

कर्म-पक्ष से यानी उन विचारों को कर्म में ढालने की दृष्टि से कट गए हैं। एक सच्चा गाँधीवादी होने के नाते आत्मालोचन करता, पश्चात्ताप के क्षणों से गुज़रता मन कि—भवानी अपने घर-गाँव से दूर बम्बई महानगर की एक कोठरी में बिजली के लट्टू की रोशनी में बैठा है। जन्मदिन है आज उसका। वह कभी आश्रम में था तो भी सेवा करने का अवसर आ जाता था किन्तु यहाँ—इस महानगर में माँ से और सेवा से—दोनों से कट गया है। यहाँ "शपथ तो तूने कभी खायी थी मन में इसी आशय की कि तू सेवा करेगा। किन्तु तू जिस काम से। आया है वह सेवा नहीं है नौकरी है।···आज तेरे जन्म के इस महीने में, सोचने की बात है। तू सिर्फ़ अपने लिए जीने में लगा है। इसी से भयभीत होकर। दूर से माँ ने पुकारा है 'भवानी मर रहा है'।"[1]

ऐसी तीखी, स्पष्ट अपनी आलोचना करने की शक्ति ही सच्ची जीवनी शक्ति होती है किसी कवि की जो वाणी की शक्ति भी बनती है। यही, स्थितियों को देखने की, रोशनी भी देती है, शब्दों में प्राण भी भरती है। कर्म में ऊर्जा भी देती है। गाँधी में गुणों का कमाल था तो उनके अनुयायी होने से भवानी ने इन्हें ही बार-बार सहेजने की कोशिश की है। किसी भी देश-समाज के लिए, विश्व के लिए भी ये गुण-तत्त्व इसीलिए अनुकरणीय हैं, क्योंकि सुसंस्कृत मनुष्य मात्र के ये प्रकृति-गुण हैं। गाँधी जी के, जीवन को लेकर प्रयोग, इन्हीं प्रकृति गुणों की शृंखला में आते हैं। भवानी भाई इन गुणों-प्रयोगों को जीवन में ढालते गए, सम्पन्न होते गए।

"अग्निवर्णी हंस स्वर मानो सुधा में तैरने के बाद का
इस तरह का रूप मुझको आज लगता है तुम्हारी याद का।"[2]

'अग्निवर्णी' शीर्षक कविता में गाँधी की 'याद' को कवि अपने काल और सन्दर्भ में रखकर देख रहा है। 'इस निशा से उस निशा तक' की अवधि यानी स्वतन्त्रता पूर्व पराधीनताकाल की निशा और स्वतन्त्रता के बाद देश में वृहत्तर जन समूह के प्रति भूख, उत्पीड़न, अन्याय से बनी निशा के मध्य गाँधी का स्वर अग्निवर्णवाला हंस था। पराधीनता के अँधेरे को यदि उस स्वर ने काटा था तो आज की, इस निशा को भी गाँधी-स्वर ही काटेगा। 'इस दिशा से उस दिशा' तक का आकाश—निराशा, हताशा, हिंसा के रंगों-भरा आकाश उस अग्निवर्णी हंस की उड़ान से छितरा जाएगा उसके पंखों की फड़फड़ाहट से उत्पन्न स्वरों से छीज जाएगा।

---

1. गाँधी पंचशती, पृ. 211
2. वही, पृ. 305

अपने परिवेश के प्रति उक्त सूक्ष्म संवेदनशीलता और नयी सामाजिक सम्बद्धता में विकसित काव्यास्वाद के ऐसे कई-कई स्थल एवं समूची कविताएँ 'गाँधी पंचशती' में उपलब्ध हैं। कुछ आलोचकों को यदि संकलन की कविताओं में सृजन आयामों की शिथिलता लक्षित होती है तो उन कविताओं के आधार पर जो कवि ने आये दिन के अनाचारों के विरोध में अपना प्रतिरोध रेखांकित करने के कारण लिखी हैं या देश-काल में घटित कुछ प्रमुख घटनाओं को लेकर लिखी हैं जैसे, गाँधी जी का बलिदान, चीनी हमला या नेहरू जी का देहावसान।

गाँव को इकाई और केन्द्र मानकर विकास की सारी प्रक्रिया को पुनरावर्तित करना, देश का पुर्नगठन करना तथा उद्योग तकनीक का उसके अनुकूल और उतना ही सहयोग लेना जितना गाँव के लिए ज़रूरी हो—ऐसी सोच गाँधी को अपने देश की गहरी समझ से प्राप्त हुई थी। उन्होंने देश-काल-समाज के परे भविष्य में सेंध लगाकर इतना सब जान लिया था। यह तभी जाना जाता है जब व्यक्ति शरीर न रहकर आत्मा हो जाता है। जब शरीर, मन, आत्मा के भेद मिट जाते हैं और मात्र आत्मा शेष रह जाती है। तब सर्वात्मसुख व्यक्ति का अपना सुख हो जाते हैं, ये किसी भी देश के विकास के आयाम हो सकते हैं। अणु शक्ति के भरोसे देश को शक्तिशाली माननेवाले लोगों के लिए कवि के शब्द हैं कि देश का असली विकास तभी होगा जब हमें सेना की ज़रूरत न पड़ेगी, जब मनुष्यों को परस्पर लड़ना बुरा लगेगा, जब विदेशों से गल्ला और कपड़ा न माँगना पड़ेगा, और सबसे बड़ी चीज भाषा भी न माँगनी पड़ेगी। यानी आत्मनिर्भरता और शान्ति के साथ स्वभाषा-संस्कृति की अस्मिता का लौट आना ही असली विकास है।[1] किन्तु आज तक के क्रम को देखें तो गाँधी, गाँधीवाद और भवानी की 'गाँधी पंचशती' अपने पूरे वजूद से सत्य सिद्ध हो रहे हैं और हमारी सारी समस्याओं की ओर दुःखद व्यंग्य की दृष्टि से देख रहे हैं। भाषा किसी जाति का सबसे पवित्र और सबसे ऊँचा संस्कृति-भाव सँजोए रहती है। इससे समझौता करना अपनी सारी जाति-संस्कृति-अस्मिता से हाथ धोना होता है। 'विफल योजन' कविता में अपनी भाषा छोड़ अंग्रेज़ी का प्रयोग करनेवालों पर तीखा व्यंग्य प्रहार किया है कवि ने :

"मेरे फूल बहुत बतियाना अंग्रेज़ी में
बन्द करो
यदि माली समझा नहीं निरर्थक
मर जाओगे।"[2]

---

1. गाँधी पंचशती, पृ. 352
2. वही, पृ. 246

देश की भाषाई, मानवमूल्यकारी, समतामयी दुरवस्था के सन्दर्भों को—स्थितियों को लेकर कवि में एक आक्रोश का भाव तो उभरा ही है साथ ही व्यंग्य-प्रहार भी तीव्र हुआ है। भाषा की तरह ही 'गाँव', 'हरिजन', 'निर्धन' की चिन्ताएँ कवि की इन कविताओं में जहाँ-तहाँ व्यक्त हुई हैं।

इन सबके ऊपर एक स्वर चिन्तनात्मक आशाओं का, दार्शनिक विचारों का है, जहाँ सम्पूर्ण सृष्टि एवं ब्रह्माण्ड को ही एक इकाई मानकर, एक लय, एक संगीत की अवधारणाएँ व्यक्त हुई हैं। "क्योंकि विश्रृंखल कुछ नहीं है। हम सब जुड़े हुए हैं, पहाड़ और पंछी सब बड़े हुए हैं।"[1] गाँधी पंचशती के अन्तिम भाग 'वचन छाया' के अन्तर्गत दार्शनिक सूक्ष्म विचारों की अभिव्यक्ति विशेष रूप से रेखांकित करने योग्य है। गाँधी विचार के अहिंसा-पथ का वर्णन करते हुए कवि की मान्यता कि "यदि हिंसा के आगे झुक जाओ तो वह और बढ़ती है किन्तु यदि अपने पथ पर दृढ़ रहो, निर्भय और विनयपूर्वक सच कहो तो हिंसा विलीन हो जाती है। अपना स्वभाव खोकर अहिंसा और प्रेम के बीज बो जाती है।"[2] गाँधी जी के विचार अध्यात्म के व्यापक क्षेत्र को भी आत्मसात् किए हुए हैं, इसलिए उनके दार्शनिक चिन्तन के क्षितिज भी अत्यन्त व्यापक रहे हैं। इन्हें अपनी उपलब्धि के रूप में मानता हुआ कवि कहता है कि ज्ञान, कर्म या भक्ति किसी भी माध्यम से हो अनन्त की शक्ति से स्वयं को जोड़ना तो पड़ेगा ही। "अनन्त की उस शक्ति, स्रोत, प्रवाह से अलग रहकर हम कुछ नहीं होते, क्योंकि अपरम्पार के अथाह शक्ति स्त्रोत से कटकर रहना, व्यक्ति का अपने असली व्यक्तित्व से अनभिज्ञ रहना है।"[3] व्यक्ति अपनी सीमित शक्तियों को विकसित कर सकता है अनन्त शक्ति से जोड़कर। यह अनन्त शक्ति अध्यात्म की है। गाँधी पूर्णतः आस्तिक व्यक्ति थे, भवानी का कवि भी पूर्णतः आस्तिक है। अतः अन्तिम पद्य में अपनी अशेष आस्था और विश्वास उस प्रभु में व्यक्त करते हुए कवि कहता है कि :

"प्रभु के हाथ में निमित्त होने से अधिक
और क्या है मेरे चित्त
पूरी तरह अर्पित हो जाना
निःशेष खो जाना
हो जाना है प्रकृति की तरह सरल
और प्रबल और विमल।"[4]

---

1. गाँधी पंचशती, पृ. 319
2. वही, पृ. 421
3. वही, पृ. 423
4. वही, पृ. 438-39

और यदि कोई अर्पित नहीं होता तो इसी में दुःख के कारण छिपे हैं। अतः "उस प्रभु का आदेश सुनो, जैसा वे निबाहें, उसी राह को चुनो। वही तुम्हारा कल्याण का मार्ग है। सुख और शान्ति और सफलता का मार्ग है।"[1] प्रश्न उत्पन्न होता है कि तब व्यक्ति के अपने हाथ में क्या रह जाता है? उसकी सामाजिकता क्या हुई? उसके अपने प्रयत्न, गतिविधि, संघर्ष क्या हुए? उत्तर भी यहीं छिपा है कि अपने बौद्धिक एवं आत्मज्ञान से उस वृहत्तर समाज के साथ स्वयं की नियति को जोड़कर चलने से, उनकी मुक्ति में स्वयं की मुक्ति मानने से बड़ी प्रभु-भक्ति नहीं है। यों 'गाँधी पंचशती' में मात्र गाँधीवादी विचारों-सन्दर्भों से सीधे-सीधे जुड़ी कविताएँ ही संकलित नहीं है। हाँ गाँधी-सन्दर्भों, विचारों से जुड़ी कवि की सर्वाधिक कविताएँ यहीं इसी पुस्तक में हैं। तो भी विभिन्न विषयों की कविताएँ—प्रकृति प्रेम, मनुष्य, धर्म, ईश्वर, ब्रह्माण्ड आदि से सम्बन्धित कविताओं को यहीं संगृहीत करने का उद्देश्य सम्भवतः यही प्रतीत होता है कि ये सब कविताएँ सन् 1930 से लेकर सन् 1968 तक की अवधि में लिखी गयी हैं और गाँधीवादी संवेदना, विचार, अनुभूति के मुख्य सरोकार कवि के समग्र सोच और संवेदना पर हावी रहे हैं। प्रकृति से लेकर मानव और मानव संस्कृति के प्रति गाँधीवादी सोच जो वस्तुतः वैष्णवी सोच है, को उपलब्धि मानकर रची गयी इन कविताओं में अनुभूति और संवेदना को सृजनशीलता के धरातल पर उठाने के कारण भवानी भाई अपनी अलग विशिष्ट पहचान स्थापित करने में सफल हुए तो अपनी दूसरी काव्य कृति 'बुनी हुई रस्सी' के लिए (वर्ष 1972 में) साहित्य अकादेमी द्वारा समादृत-पुरस्कृत भी।

गाँधी ने भारतीय अध्यात्म को आधुनिक युग में नर-पूजा के माध्यम से पुनः स्थापित किया तो भवानी ने इस 'पर' पूजा को अपने काव्य में और काव्य के माध्यम से हिन्दी साहित्य में स्थापित किया। गाँधीवाद की स्थापना वृहत्तर मानवता और मानवीय गुणों की स्थापना है। अपने काव्य के माध्यम से इन वृहत्तर मानवीय सरोकारों, चिन्ताओं और चिन्तन-प्रक्रियाओं से जुड़कर भवानी प्रासंगिक और बड़े अर्थवान् कवि सिद्ध हुए हैं।

---

1. गाँधी पंचशती, पृ. 438-39

कालजयी : रचनात्मक प्रासंगिकता

'कालजयी'—भवानी प्रसाद मिश्र जी की प्रौढ़ काव्य-वय की रचना है। लगभग पचास वर्षों तक रचनारत रहने के बाद सन् 1980 में उन्होंने यह रचना की थी। उनके कवि का भाव, वस्तु और शिल्प का उत्कृष्ट इस रचना के माध्यम से सामने आया है। मात्र यह ही एक प्रबंध रचना उन्होंने दी है। शेष सोलह कविता संग्रह मुक्त कविताओं के संग्रह हैं। इस एक प्रबन्ध काव्य रचने के पीछे कथ्यगत या विचारगत दबाव रहे होंगे, जिनके कारण यह रचना हुई। भवानी भाई जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है कि वह 'अर्थ' की अपेक्षा 'शब्द' के कवि हैं। अत: शब्द और विचार के साथ उत्तरोत्तर गहराते सांस्कृतिक बोध के आयाम अपने दीर्घ, बड़े फलक और गहन संवेदनाओं के धरातल पर कवि को बाध्य कर प्रवन्ध का रूपाकार ले गए हैं। किसी भी बड़े कवि के सरोकार कालगत आयामों में जितने फैलते हैं, उतने ही ऊर्ध्वोन्मुखी भी होते हैं। 'कालजयी' इस अवधारणा को पुष्ट करती है। यहाँ कवि ने भारतीय संस्कृति की परम्परा को—चेतना की सुदीर्घ व्यापी धारा को आत्मसात किया है, तभी यह प्रबन्ध रचना, सम्भव हो पायी। अपने से पूर्व के साहित्यिक दाय को, सांस्कृतिक चेतनधारा को आत्मसात किए बिना किसी भी साहित्यिक के लिए कुछ भी सार्थक वृद्धि कर पाना सम्भव नहीं होता। भवानी भाई की इस काव्य कृति में, उनके स्वाभाविक झुकाव के अनुरूप, लोक पक्ष, प्रमाण के स्तरों पर, धड़कते जीवन्त कथ्य के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

अपने समय और समाज (1980 ई.) के सन्दर्भों में, जो कि स्पष्टत: भारत में आपात्काल के बाद का काल है, जिसमें मूल्यगत ह्रास राजनीति और समाज में कई स्तरों में तीव्रता में उभरा, इस कृति के रचनात्मक तनाव, अनिवार्यता और प्रासंगिकता को रखकर देखना-परखना ज़रूरी हो जाता है। साथ ही, विश्व क्षितिज पर बढ़ती, स्वीकृति पाती हिंसा के विरुद्ध एक सबल ऐतिहासिक प्रमाण के रूप में यह कृति हस्तक्षेप करती है तो भारतीयता के अद्वितीय उन गुणों को स्मरण कराकर उसकी भूमिका भी तय करती है। क्योंकि :

"यह कथा व्यक्ति की नहीं,
एक संस्कृति की है;

यह स्नेह शान्ति
सौन्दर्य शौर्य की धृति की है।
यह धारा संस्कृति की
विशिष्ट अति वेगवान,
केवल भारत की धरती पर
थी प्रवहमान।"

'कालजयी' के प्रथम सर्ग 'बीज' की आरम्भिक इन पंक्तियों में बीज रूप में कवि ने अपना सारा आशय ही प्रकट नहीं कर दिया अपितु रचनात्मक तनावों के साथ अपने सरोकार की पृष्ठभूमि, गहनता और युगीन प्रासंगिकता की ओर भी स्पष्ट संकेत कर दिया है। इसी दिशा में हम उक्त रचना की पहचान-परख करना उपयुक्त मानते हैं।

कालजयी के सम्पूर्ण कथानक को कवि ने छः सर्गों में विभाजित करके रचा है—(1) बीज, (2) अंकुर, (3) विकास, (4) वट, (5) छाया, (6) निर्वाण। सर्गों के नामकरण की मानसिकता भी बीज से निर्वाण तक की भारतीय चेतन-दर्शन-पद्धति को रेखांकित कर रही है। भारतीय अध्यात्म चिन्तन को मूर्त करने के लिए 'वृक्ष' के रूपक-प्रतीक अर्थों को सदैव अनुकूल एवं उपयुक्त मानकर उठाया गया है। 'कालजयी' के सर्ग-विभाजन ही नहीं कथा-विकास एवं फलागम तक की सारी स्थितियों का संयोजन भी किया गया है। संक्षेप में कथानक इस प्रकार है : पाटलिपुत्र के शासक मौर्यवंशी चन्द्रगुप्त का पुत्र बिन्दुसार था और बिन्दुसार के चार पुत्र—सुसीम, अशोक, महिन्द और तिष्य थे। बिन्दुसार की प्रमुख दो रानियों में एक ग्रीस की थी, दूसरी चम्पक प्रदेश की राजपुत्री शम्पा। अशोक शम्पा का पुत्र था। बिन्दुसार अपने उत्तराधिकारी के रूप में मन ही मन सुसीम को स्वीकार कर चुके थे, किन्तु इस बात को उन्होंने प्रकट न होने दिया। वह चाहते थे राजगुरु और प्रजा स्वयं सुसीम को स्वीकार करें। अतः वे सुसीम के लिए ऐसी अनुकूल स्थितियों का चयन करते रहते। राजगुरु ने जो निर्णय दिया वह भी अस्पष्ट था तो भी राजा ने उसे सुसीम के पक्ष में माना और निश्चिन्त हो गए। सुसीम ने भी निर्णय के संकेत अपने पक्ष में माने। जबकि गुरु के मन में अशोक थे। स्थितियों की विडम्बना ही थी कि गुरु भी स्पष्ट न कहना चाहते थे। सुसीम के लिए बिन्दुसार जितना पक्ष में थे अशोक की माता शम्पा उतनी ही अनिच्छुक थी अशोक को राजा के उत्तराधिकारी के रूप में देखने की। वह चाहती थी कि यदि अशोक राजा बने तो अपने नैतिक, चारित्रिक, उदात्त गुणों के बल पर बने; छल, बल और अनैतिक किसी भी तरीके से प्राप्त किया हुआ उत्तराधिकार व्यर्थ है।

राजा बिन्दुसार को तक्षशिला में जन-विद्रोह का समाचार मिला तो उसने

सुसीम को अपने निकट रखने और राजधानी से दूरस्थ स्थान पर भेजने के इरादे से अशोक को वहाँ भेज दिया, जबकि मन्त्री का सुझाव था कि तक्षशिला सुसीम का ननिहाल है, वह वहाँ की स्थितियों से अधिक परिचित एवं अनुकूल रहेगा। किन्तु अशोक ने अप्रत्याशित सफलता प्राप्त कर बिना रक्तपात और युद्ध किए जन-विद्रोह को शान्त कर जनता में अपनी गहरी पहचान और रुचि जगा दी।

इसी प्रकार बाद में उज्जयिनी में भी समस्या उठ खड़ी हुई। वहाँ भी अशोक को ही भेजा गया। अशोक वहाँ एक सेठ की पुत्री 'देवी' के संसर्ग में आया और उससे विवाह बन्धन में बँधा। वहीं उसे बिन्दुसार के देहान्त का समाचार मिला और वह देवी के साथ पाटलिपुत्र लौट आया। स्थितियाँ ऐसी बनीं कि सभी की सहमति से अशोक का राज्याभिषेक हुआ। पाटलिपुत्र की राजकीय परम्परानुसार नया राज्य जीतने के लिए अशोक ने कलिंग पर आक्रमण कर भीषण नर-संहार किया। कलिंग को जीतकर अपने राज्य में तो मिला लिया किन्तु इतने बड़े रक्त-पात के बाद उसके मन पर जो प्रतिक्रिया जगी, वितृष्णा हुई तो उसने बौद्ध धर्म की शरण ली। बौद्ध धर्म में दीक्षा लेने के बाद अशोक ने राज्य में स्तूप बनवाये, शिलालेख लगवाये। इतना ही नहीं, बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए अपनी पुत्री को तथा प्रचारकों को विश्व के अन्य देशों में भेजा।

मूलतः 'कालजयी' युद्ध-विरोधी काव्य है। विश्व की समकालीन युद्धोन्मादी स्थितियों और तृतीय विश्व-युद्ध की घहराती-घुमड़ती घटाओं की गर्जना के विरुद्ध मानव विवेक को जागृत करने का काव्य-प्रयास है। सदियों के मानव-इतिहास द्वारा मान्य सत्य, अहिंसा, त्याग एवं स्नेह की धरती पर बार-बार उत्पन्न हुआ उद्घोष है। इस उद्घोष की जननी, भारतीय अध्यात्म और विश्व-परिवार की पोषक दार्शनिक-चिन्ताकुल वैष्णवता इस कृति में चरितार्थ हुई है अशोक के उत्तरार्द्ध के परिवर्तित व्यवहार में। कलिंग-विजय वास्तव में उस उन्मादी, युद्ध-प्रिय मान-सिकता की पराजय की घटना है। कवि ने इतिहास और कल्पना के रचनात्मक अन्तर्लयन से, इस नाटकीय मोड़ से सम्बलित आख्यान को माध्यम बनाया है। युग की विभीषिका से आगाह करती, भीषण मानवीय त्रासदी के प्रति मनोवैज्ञानिक धरातल पर विकसित इस संघटना को रचकर एवं भारतीय मानवतावादी चिन्तन-धारा में प्रक्षालित करके मानव अस्तित्व के जयघोष की आशावादिता को भविष्य का संबल बनाकर प्रस्तुत किया है। विश्व के भावी आशंकायुक्त महायुद्ध को टालने का एक सबल तार्किक आधार प्रस्तुत किया है। रचनागत अनिवार्यता का यह एक पुष्ट तर्क है तो सृजनात्मक तनाव का प्रमाण भी।

युद्ध और महायुद्ध के विरुद्ध शान्ति, समता, करुणा का आख्यान तो 'कालजयी' है ही पर इसके अतिरिक्त अन्य कई विचारों को युगीन अनिवार्यता के परिप्रेक्ष्य में कवि उठाता है। नैतिकता का प्रश्न—आधुनिकता के मूल्य के रूप में भवानी जी ने

यहाँ उठाया है। अशोक इस चरित्र-व्यवहारगत नैतिकता का निर्वाह करता है, जिसका बीज रूप में विचार उसकी माता ने दिया है उसे। दण्डनीति या कूटनीति की अपेक्षा मानवीयता और नैतिक बल की स्थापना अशोक की माता करती है :

"सिंहासन, आकांक्षा-धन कभी नहीं
इन्द्र का ऐरावत/अश्व स्वयं सूर्य के;
बेटा नगण्य हैं सब/अभी हैं, अभी नहीं।
मूल्य प्रेम करुणा के/ममता के साध्य अपने
पंथ हैं अतीव कठिन/इन तक पहुँचने के
किन्तु वे ही सेव्य हैं/शिव हैं, आराध्य अपने।"

'कालजयी' में परम्परित भारतीय जीवन-दृष्टि की पुनःस्थापना करती हुई उक्त पंक्तियाँ अशोक की माँ का परामर्शमात्र नहीं, राजनीतिक नैतिकता का सूत्र भी थमाती हैं। भारत में सत्ता-व्यवस्था को जन-सेवा, जन-कल्याण का मार्ग एवं दायित्व माना गया है। सुखोपभोग एवं अहंकार का कारण नहीं। बड़ी से बड़ी सम्पत्ति एवं सत्ता के साधन भी नगण्य माने गये हैं। क्योंकि ये क्षणजीवी हैं। अभी हैं, अभी नहीं हैं। शाश्वत यदि कुछ है तो वह है प्रेम और करुणा का आधार। ममता की आधार-स्थली, जहाँ खिले फूलों की खुशबू सदियों तक मौजूद रहती है, वही साध्य है मनुष्य का। प्रेम, करुणा और ममता का रास्ता कठिन तो है किन्तु यही शिव और आराध्य है। ये गुण ही, अशोक को, बाद में अशोक महान् बना पाए और भारतीयता, भारतीय संस्कृति की जय-यात्रा का पथिक और यह दृढ़ स्थापना भी कि :

"दण्डनीति आदि कभी
नैतिक होती ही नहीं।"

तक्षशिला में, इस नीति के बल पर बिना युद्ध किए वह शान्ति-व्यवस्था कायम करने में सफल रहा। एक जन-सेवक के रूप में वह लोकप्रिय एवं ख्यात हुआ। यही नीति उज्जयिनी में भी अशोक की कीर्ति में अभिवृद्धि करती है। अशोक के मन के विचारों को कवि इस प्रकार व्यक्त करता है :

"सदा सोचता रहता हूँ मैं
क्षुद्र क्षुद्रता भूले अपनी
निज महत्त्व भूल महानता

अनाहूत आनन्द
बरस कर धरती पर
भर दे समानता।"

इस प्रकार मनुष्य की महानता और समानता को पुनः लौटता हुआ देखन चाहनेवाला अशोक चाहता है कि मनुष्य अपनी क्षुद्रताओं से ऊपर उठे किन्तु अशोक का द्वन्द्व उत्तरोत्तर गहराता जाता है। एक ओर देश की तत्कालीन परम्पराओं की सीमाओं में जकड़ा है वह कि प्रतिवेशी राज्य कलिंग को जब तक वह अपना नहीं बनाता तब तक उसका अभिषेक पूरा नहीं माना जाएगा और दूसरी ओर मानवीयता, नैतिकता का गहराता बोध, मात्र धरती जीत लेना असली विजय नहीं, लोगों के मन को जीतना ही सच्ची विजय है। किन्तु दिन-दिन की 'बकवासों' से तंग आकर उसे कलिंग पर आक्रमण करने का आदेश देना पड़ा है। बाद में पश्चात्ताप में डूबा हुआ अशोक ही वास्तविक अशोक है जो इस युद्ध को शुद्ध मूर्खता मानता है और सोचता है, "युद्ध तनिक-सी भी अच्छाई का विरोध है। वह है केवल पाप। बुराई जिसमें अच्छाई को कण-कण कुचले बिना नहीं रह सकती।" (पृ. 75)

वस्तुतः युद्ध एक ऐसी भीषण त्रासदी बनकर उपस्थित होता है, जो बाहर ही नहीं भीतर भी विनाश करता है उन मानव सुलभ गुणों का, जिन पर सभ्यताएँ पलती-बढ़ती हैं और गर्व करती हैं। विश्व में आज युद्धों के पक्ष में तरह-तरह के जो तर्क उपस्थित हुए हैं उन्हें मानवीय नैतिकता के घेरे में लाकर सोचते हुए कवि युद्ध को सीधे-सीधे 'पाप' की ही संज्ञा देता है। और एक ऐसी 'बुराई' मानता है, जो अच्छाई को कण-कण कुचलती और विनष्ट करती है। अच्छाई यानी सभी मानवीय सद्‌गुण, जिन्हें युद्ध कुचलकर एक बहुत बड़ा संत्रास, भय, अविश्वास छोड़ जाता है। मानव का ही विनाश नहीं प्रकृति का भी ध्वंस होता है। भीतर-बाहर अपनी पूरी नैतिक सत्ता से भी मनुष्य गिर जाता है। युद्ध के प्रति यह भारतीय अध्यात्म, शान्ति, संवेदना मानवीयता की वह दृष्टि है जो शस्त्र तो क्या शक्ति के प्रयोग द्वारा दूसरे को दबाने को अश्लील, अन्याय और निन्दास्पद मानती है।

'कालजयी' में काल, महाकाल के आयामों के साथ 'क्षण' के प्रति आधुनिक सोच भी घटित हुई है। गाँधीवादी सत्य, अहिंसा, करुणा के आग्रह तो आद्यन्त गूँजते ही हैं। आधुनिकतावादी विचारकों के विचार, नयी कविता के अस्तित्ववादी विचार भी जगह पा सके हैं। अस्तित्ववाद की क्षण के प्रति जो अवधारणा है, उसे आधुनिकतावादी विचार के अंग-रूप में नहीं बल्कि काल की ही लघुतम इकाई के रूप में कवि ने लिया है :

"मत समझो
क्षणभंगुर है देह इसी से
क्षण का अर्थ हमारे लेखे;
किसी अनागत में क्या होगा
यह है व्यर्थ हमारे लेखे;
यदि हमने क्षण ठीक बिताया
तो सार्थक क्षण-भंगुर जीवन।" (पृ. 98)

क्षण की सत्ता को सतत् प्रवाही रूप में, काल की सततता में रखकर ही स्वीकार किया गया है, जैसे व्यक्ति की सत्ता को सामाजिक भूमिका में रखकर ही सार्थक मानता है कवि।

शक्ति और सत्ता के कारण जग में एक ओर अहंकार और दर्प के हाथों दुःख, हिंसा और क्षमाहीनता व्याप्त है तो दूसरी ओर दीनता फैली है। थोड़े-से लोग सुखी हैं, तो बहुत सारे लोग शोक के समुद्र में डूबे हुए हैं। किसी सत्ता अधिपति का, राजा का कर्तव्य है कि वह शोक-सिन्धु में डूबे लोगों को उबारे, लहर-लहर और बिन्दु-बिन्दु को दुःख, दैन्य, द्विविधा से मुक्त करे। मात्र कोरे विचारों के ऊहापोह में मन का डूबे रहना व्यर्थ है, मन को संवेदनशील बनाकर लोगों को छोटे-बड़े दुःखों से मुक्त कराएँ। शक्ति, सत्ता की सार्थकता है, कर्तव्य है। हमें दुःख के स्रोतो को देख-समझकर दूर करने के लिए उपाय खोजने और इस दिशा में सक्रिय होने का ज्ञान ही उपयुक्त है अन्यथा निष्क्रिय वाद-विवाद में उलझानेवाला ज्ञान भी किसी काम का नहीं। 'आत्मजयी' में अशोक एक ऐसा राजा बनकर उभरा है। अहिंसा, शान्ति के साथ मानवीय नैतिकता को एक सर्वोच्च मूल्य का सम्मान देता है। कवि के शब्दों में, "वह एक अत्यन्त शक्तिशाली राजवंश की परम्परा में सबसे बड़ा सम्राट हुआ और फिर उसने राजनैतिक महत्ता को भूलकर नैतिक दृष्टि से देश और काल की सीमाओं को लाँघकर मनुष्य मात्र को बनाने-सँवारने का जो प्रयत्न किया, उसकी इतिहास में कोई दूसरी मिसाल नहीं है।" (भूमिका)

आज विश्व में शक्ति, सत्ता का ही नहीं, हिंसा का भी बोलबाला इतना अधिक और इतना प्रभावी हो गया है कि लोग अवचेतन तक हिंसा को स्वीकार करते जा रहे हैं। उससे उद्वेलित नहीं होते। यह अपने आप में एक बहुत बड़ी बुराई है, जो मानवीय गुणों के विरुद्ध विश्वास का स्थान ग्रहण करती जा रही है। वर्तमान युद्ध और हिंसा से जर्जर मानव-समाज के लिए यह काव्य एक प्रबोधन है। भारतीय चिन्तन की इस दिशा को अपने व्यवहार से आलोकित करनेवाला अशोक वस्तुतः समूची सांस्कृतिक विरासत को कर्म से मूर्त करता है। भारतीय अध्यात्म, उत्सर्ग, त्याग, शान्ति, अहिंसा की चिर प्रवाहित चेतना-चिन्तना की धारा को भविष्य के

पड़ावों तक पहुँचानेवाला साधक अशोक है, जो वर्तमान मानव और मानव-समाज को दृष्टि और दिशा दे सकता है। इन्हीं अर्थों में इस रचना का संकल्प भी काल से होड़ लेता, उसे पछाड़ता नज़र आता है। मनुष्य की जययात्रा के साधन-गुणों की पुन:स्थापना का वैचारिक आख्यान है 'कालजयी'।

इस कृति में भी कवि के काव्य-शिल्प की तराश देखी जा सकती है। यह जरूर है कि रूप के अधीन कवि ने कथा से अधिक विचारधारा का सहारा लिया है और खण्डकाव्य के परम्परित तत्त्वों की अपेक्षा अन्विति, द्वन्द्वात्मक तनाव, नाटकीयता आदि गुणों के कारण यह रचना इधर विकसित लम्बी कविता विधा के अधिक निकट सिद्ध होती है। अपने प्रवाह, सहज-संप्रेषण, मुहावरों के सटीक प्रयोग के कारण 'कालजयी' की भाषा जीवन्त और प्रभावपूर्ण है। मुक्तछन्द के निजी कौशल-पूर्ण निर्वाह से यह रचना भी सुवासित है। अलंकारों के अनायास प्रयोग जहाँ-तहाँ लक्षित किए जा सकते हैं। क्योंकि भाषा का और शैली का कोई पृथक् आग्रह उनके काव्य में कहीं भी नहीं रहा, इसलिए सर्वाधिक योग शब्द प्रयोग, प्रतीक-योजना और लय का ही उनके काव्य में हुआ है।

बिम्ब-विधान एवं प्रतीक योजना से संवलित के स्मृतिमयी भाषा सिद्धहस्त कवि माने जाते हैं भवानी भाई :

"हट गये मेघ
प्राची दिगन्त में
शुक्रतारा झिलमिला उठा।"

रचना के अन्त में फलागम वाली स्थिति का चित्रण करती हुई उक्त काव्य पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं। विपत्ति के मेघ छँट जाने के उपरान्त पूर्व दिशा में शुक्रतारे का दीखना, शुभ का द्योतक है। नयी आशा एवं जीवनारम्भ को संकेतित कर रहे प्रतीक कवि के आशय को भली-भाँति चरितार्थ कर रहे हैं। संस्कृति की जययात्रा के एक पड़ाव के रूप में अशोक का अवदान स्वयं सिद्ध होता है। भारतीय संस्कृति की यह एक विशिष्टता है कि उसकी सतत् प्रवाही धारा अविच्छिन्न रही है। अशोक भी कालजयी तभी बने, जब उन्होंने तप, त्याग और मानव कल्याण के महत् आदर्शों को धारण किया। इन तत्त्वों की स्थापना 'कालजयी' के माध्यम से कवि भवानी प्रसाद मिश्र ने बाखूबी की है।

प्रकृति-वेश तथा दृष्टि

किसी भी रचनाकार को वड़ा बनाती है मानव परम्परा में प्रकृति और स्मृति की दखलकारी दृष्टि। भारत जैसे पुरातन संस्कृति-सम्पन्न देश में जहाँ प्रकृति की विविधता मानव विकास के आयामों में श्वास और गन्ध की तरह रची बसी है और जिसके पास वैदिक काल से अक्षुण्ण प्रसारित होती आयी चैतन्य विवेक की स्मृति-परम्परा है, वहाँ का लेखक इन तत्त्वों से विपन्न कभी हो ही नहीं सकता। विपन्न यदि कोई होगा तो यह विपन्नता, उसकी ओढ़ी हुई हो सकती है। क्योंकि यहाँ तो आँखें खोलते ही प्रकृति का हिण्डोला उसे मिलता है। भवानी प्रसाद मिश्र अपने बचपन को याद करते हुए कहते हैं: "बरसात बहुत भाती थी—नदी मुझे बुलाती ही रहती थी और उसके निमन्त्रण को मैं ठुकराता भी नहीं था। फूल-पत्ती की हरियाली में मेरा मन हुमकता था। नर्मदा और उसके आसपास के जंगल-पहाड़-पेड़ मुझमें बचपन से ही मौजूद थे।"[1] अपने भीतर के बचपन में उपलव्ध संस्कारों को ही रचनाकार ढूंढ़ता, याद करता और रचता रहता है। अन्तर्मुखी इन्हीं सरोकारों में उसकी मौलिकता, प्रामाणिकता और एक हद तक प्रतिभा की पूँजी का निवेश रहता है। बाहर, सामाजिक परिप्रेक्ष्यों में लेखकीय सरोकारों का फैलाव उसके बोध, ज्ञान और उपार्जित क्षमताओं का विश्व झलकाता है। भवानी भाई अपनी कविताओं में भाव के स्तर पर फूलों-फलों की तरह स्वयं को खुलता हुआ, संवाद-मय और आबद्ध पाते रहे, उनके आवेगों की जड़ें प्रकृति-परिवेश में गहरे गड़ी थीं, अपने भीतर के भाव को खोलने में उनके जन्म-स्थान का बड़ा भारी हाथ था। वे अपने बचपन के संस्कारों-प्रभावों को याद करते हुए कहते हैं:

"मेरी माँ बहुत ऊँचे चढ़कर—एक बार मुण्डन के लिए देवी के पास ले गयी थी—तब से मैं देवी और ऊंचाई का स्वाद जान गया था। बाद में वहीं देवी (विंध्यवासिनी देवी) अपनी शक्तिधारा नर्मदा के साथ मेरी कविता में आ बैठी। मैंने भी अपने शब्दों की कुटिया उसी के किनारे बना डाली।"[2] 'देवी और ऊँचाई' के स्वाद को थोड़ा जान लेना ज़रूरी है। अपने प्रतीकार्थों में, जैसे कि कवि की

---

1. अन्तरंग साक्षात्कार—कृष्णदत्त पालीवाल, पृ. 9
2. वही, पृ. 9

रचनात्मकता में ये दोनों शब्द अपनी सार्थक मौजूदगी सिद्ध करते हैं; उन्हें देखते हुए कहा जा सकता है कि 'देवी' वह मानववादी चैतन्य धारा है जो हर कहीं प्रकट है अपनी मौजूदगी में—जड़ में, चेतन में; और ऊँचाई आशय, उद्देश्य भाव और विचारगत वह शिखर है, जहाँ से मानव-हितैषी कल्याणकारी स्रोतस्विनी प्रकट होती है। कवि के काव्य में इसे उत्तरोत्तर विकसित होते हुए देखा जा सकता है। ये भाव-छवियाँ कई प्रकार से प्रकट हुई हैं। भारतीय चिन्तन परम्परा की विराटता विशालता और करुणा-उदारता प्रकृति के उदात्त आयामों की सापेक्षता में ही निर्मित, विकसित और पुष्ट हुई है; भवानी प्रसाद मिश्र भी स्वीकार करते हैं कि, "तौलकर कहूँ तो मेरी कविता वनस्पति जगत की संवेदना से बनी-रची कविता है। इस संवेदना के विकास को ही मैं अपनी कविता का विकास मानता हूँ।"[1] कवि प्रकृति से संवाद की स्थितियों में फूल-पत्ती से चैतन्य संवाद के क्षणों में जो अनुभूतियाँ प्राप्त करता है, उन्हें मानवीय आशयों में गूँथकर, सामाजिक आयामों में सबके लिए सुलभ बना देता है। किन्तु हर दशा में उसके स्रोत प्रकृति और उसके अंग तथा उप-अंग ही रहे हैं। यह स्रोत एक समृद्ध परम्परा के अन्तर्गत ही कवि ने प्राप्त किया है। "मुझे भारतीय चिन्तकों की वह विचार-वाणी भाती रही है कि पेड़-पौधे भी मनुष्य के समान हैं। प्यार के जल से बढ़ते—फलते-फूलते हैं—रस-विहीन होने पर सूख जाते हैं—झड़ जाते हैं।"[2] अत: भवानी के काव्य में प्रकृति भी चैतन्य-परम्परा की एक कड़ी है, जिससे मानव का अभिन्न और अटूट नाता है।

भवानी प्रसाद मिश्र की कविताओं में, जहाँ आकाश, हवा, फूल, नदी, तालाब, पक्षी, पहाड़ या मौसमों का उल्लेख आता है, वहाँ वे जीवन की समग्रता के आयामों में इन्हें देख रहे होते हैं, रहस्यवाद या रोमानियत नहीं बुन रहे होते। उनकी कविता में 'दुनिया' का अर्थ सिर्फ़ मनुष्यों की दुनिया नहीं, सबकी मिली-जुली एक समग्र दुनिया है, जिस पर सबका समान हक़ है। इन सबको अपने साथ लेकर, मानकर वह चलता है:

"मैं बुला रहा हूँ
मैं तुमको बुला रहा हूँ
पंछी मेरे साथ हैं हवा मेरे साथ है
लहर मेरे साथ है सहर मेरे साथ है।"[3]

---

1. अन्तरंग साक्षात्कार—कृष्णदत्त पालीवाल, पृ. 10
2. वही, पृ. 10-11
3. गाँधी पंचशती, पृ. 227

"पहाड़ की रेखा, वनों की छाया, फूलों के रंग
सब आदमी में मिलते हैं
यही सब लेकर आदमी के
रूप स्नेह शक्ति खिलते हैं !"[1]

कालिदास, तुलसी, निराला की परम्परा में यहाँ भी प्रकृति के साथ सह-भाव है इसलिए कवि पंछी, हवा, लहर को अपने साथ मान रहा है। अपने साथ यानी अपने आंतरिक व्यक्तित्व की सम्बद्धता में इनकी उपस्थिति उसे सदा महसूस होती है, इसलिए वह कभी अकेला नहीं पड़ता। अकेलापन या अजनबीपन उसकी समस्याएँ यों नहीं बनतीं, जैसे अन्य आधुनिकतावादी कवि-लेखकों की या पश्चिम के आधुनिकता बोध-ग्रस्त कवियों की। वह प्रकृति की आत्मीय उपस्थिति में प्रसन्न और खुश है। उसके साथ उसका संवाद है, रिश्ता है, लेन-देन है।

और फिर यह कवि की अटकल मात्र नहीं कि वह ऐसा अपने से मान रहा है, परन्तु प्रकृति के ये उपादान—'पहाड़ की रेखा', 'वनों की छाया', 'फूलों के रंग'[2] आदि मनुष्य के साथ हैं। उसे सहज उपलब्ध हैं। नाभिनाल-बद्ध हैं। इन्हीं से मनुष्य अपना रूप, स्नेह और शक्ति अर्जित करता है। ये तत्त्व मनुष्य में मिलते हैं। दूसरे अर्थों में इन तत्त्वों के समाहार से ही मनुष्य, मनुष्य बनता है। रूपवान बनता है। स्नेहशील बनता है और शक्तिवान बनता है। तो प्रकृति हमें जीवन भी देती है और शक्ति भी। प्रकृति के स्रोत अस्तित्व के स्रोत भी हैं और मानवीय गुणों के स्रोत भी।

इतना ही नहीं, प्रकृति के प्रति अति मुग्धता के व्यवहारों तक कवि की सम्बद्धता है। प्रकृति के बिना वह रह ही नहीं सकता। पूर्व काव्य-गुणों में प्रकृति के प्रति इस प्रकार के एकांगी व्यवहार का कारण आदिम रागात्मकता हो सकती है, परन्तु आधुनिक युग में भी इस उत्कट प्रकृति-भावना का अर्थ वर्तमान युग से वितृष्णा उतनी नहीं जितना प्रकृति के चैतन्य रूप का आकर्षण एवं इसका जाग्रत बोध। प्रकृति के उपकरण सहचर लगते हैं तो इन्हीं अर्थों में :

"सुबह सूरज आता है
मित्र की तरह

---

1. गाँधी पंचशती, पृ. 383
2. "सतपुड़ा के घने जंगल/नींद में डूबे हुए-से। ऊँघते अनमने जगल।" (गीत फ़रोश), पृ. 60

मुझे दस्तक देकर
जगाता है।"[1]

सूर्य का एक पर्याय 'मित्र' भी है। इस पर्याय का विकास, भारतीय दृष्टि की बनावट और विकास को तो दर्शाता ही है साथ ही प्रकृति के प्रति आत्मीय पारिवारिक रिश्ता भी रेखांकित करता है, जो एक लम्बी यात्रा करता हुआ भवानी तक पहुँचा है और जगाने के लिए दरवाज़े पर दस्तक दे रहा है।

प्रकृति के प्रति उनकी संवेदनशीलता के आयाम भी कवि की कविताओं में खुलते हैं। वह भाई-बन्धों से मिलते समय कुशलक्षेम पूछने की भाँति ही नदी, पहाड़, पेड़, पौधे और घास से भी मिलने पर कुशलक्षेम पूछना नहीं भूलता :

"कुशल-प्रश्न पूछता रहता हूँ
नदी से, पहाड़ से
पेड़ से, पौधे से, घास से।"[2]

फिर मानववादी प्रकृतिवादी होने के कारण भवानी प्रसाद मिश्र पेड़ों के कटने-छटने की दोहरी पीड़ा से विह्वल हो उठते हैं। एक तो उनके कटने की पीड़ा, दूसरे छँटने से उन्हें व्यक्तित्व के छिनने की पीड़ा :

"हर वृक्ष के अपना-अपना
व्यक्तित्व होता है
अलबत्ता हम जिन्हें
अपनी रुचि से काटते-छाँटते रहते हैं
उन्हें कर देते हैं लगभग एक-सा
अपने की व्यक्तित्वहीन
अस्तित्वों की तरह।"[3]

प्रकृति के अस्तित्व के साथ खिलवाड़ करने से मनुष्य ने स्वयं अपनी तो हानि की है, प्रकृति को भी बौना और खण्डित किया है। अपने आधुनिक व्यक्तित्वहीन व्यक्तित्व की तरह पेड़ों को काट-छाँटकर व्यक्तित्वहीन बना दिया है। इतना ही

---

1. परिवर्तन जिए, पृ. 123
2. व्यक्तिगत, पृ. 9
3. खुशबू के शिलालेख, पृ. 2[illegible]

नहीं, उनकी जड़ों तक को काटकर उनके विकसित रूपों को 'बोंसाई' पद्धति से बौना बनाकर अपने घरों के भीतर क़ैद कर लिया है। बरगद, पीपल, आम तक के अवरुद्ध-विकास पेड़ों को कमरों में सजा लिया है। भवानी कवि मानव और प्रकृति के विकास और स्वतन्त्रता के पक्षपाती हैं। इस प्रकार की छेड़खानी के विरोधी हैं।

भवानी भाई के काव्य में प्रकृति के सभी रूप मिलते हैं। आलम्बन, उद्दीपन, से लेकर प्रतीकात्मकता, मानवीकरण के अतिरिक्त अपनी आत्मजा और सहोदरा के रूप में प्रकृति का चित्रण। यह पहले से ही सिद्ध है कि भवानी प्रसाद मिश्र के कवि को प्रत्येक बड़े कवि की भाँति किसी वैचारिक चौखटे में बाँधा नहीं जा सकता। क्योंकि वह तो जीवन की तरह खुला, हवा की तरह उन्मुक्त, और नित-नित संभावनाशील होता है। यहाँ भी प्रकृति-चित्रण, वर्णन की संस्कृत और हिन्दी काव्य की परिपाटियों में कहीं न बँधते हुए भी प्रकृति के प्रति अत्यन्त सूक्ष्म संवेदनीयता उनके काव्य को जहाँ समृद्ध करती है, वहाँ भारतीय दृष्टि को निरन्तर रूपायित करती हुई कवि को प्रकृति के प्रति चैतन्य परम्परा से जोड़ती है।

महर्षि अरविन्द के जीवन-दर्शन की विकासवादी अवधारणा के अन्तर्गत मनुष्य का विकास उत्तरोत्तर चैतन्य रूप में विकसित होती प्रकृति का ही विकास है। मनुष्य, प्रकृति का चैतन्य—सर्वाधिक विकसित और चैतन्य रूप है। चेतनागत विकासवाद की इस अवधारणा के निकट ही भवानी प्रसाद मिश्र की प्रकृति को सहोदरा और नाभिनालबद्ध मानने की विचारना है :

"मैं बिना कुछ सोचे
बैठा-बैठा निहारता रहा
हरे उस अपने आत्मज को।"[1]

वेदान्त की दृष्टि से भी देखें तो प्रकृति, माया के रूप में रची हुई है एवं सर्वत्र उसी का प्रसार है और मानव भी इसी का अभिन्न अंग है। सन्त-कवियों ने भी मनुष्य और प्रकृति के इस नाते को स्वीकार किया और गाया है। आज विश्वभर के मानववादी और प्रकृतिवादी जिन नतीजों पर पहुँचे हैं, वहाँ भारत के मनीषी सदियों पूर्व पहुँच चुके थे। बल्कि उपनिषद् काल से इस अवधारणा का सतत् विकास होता आया है। भवानी प्रसाद मिश्र भी मनीषियों की इसी परम्परा के कवि सिद्ध होते हैं, जब वे एक हरे पौधे तक को अपना आत्मज मानते हैं।

विचार-दृष्टि

भारतीय दृष्टि हर कहीं चिन्मयता को चीन्हती और समग्रता से वस्तुओं-तत्वों

---

1. इदम् न मम्, पृ. 60

को लेती है और महाभाव—'अहिंसा' में विश्वास रखती है। भवानी भाई के शब्दों में "भारतीय संस्कृति का आधार मूल्य है—अहिंसा। अहिंसा ही व्यापक अर्थों में प्रेम है। प्रेम ही सृजन का मूल है—यही भारतीय चिन्तन की वैष्णव-धारा है। अहिंसा एक प्रकार का ऋत है—जिसमें अनेक सद्‌गुणों का गुच्छा है। इन सद्‌गुणों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आ जाते हैं।—अहिंसा निष्क्रिय न होकर सक्रिय सामाजिक दर्शन है।"[1] कवि अपने इन विश्वासों को अपने काव्य में इस तरह उतारता है कि वे कवि की संवेदनाओं में घुल-मिलकर, ऐन्द्रिकता का हिस्सा बनकर आते हैं। अनुभूत होने के कारण उनमें परायेपन की गन्ध तक मिट जाती है। कवि उन विचारों को प्रकृति-परिवेश-उपकरणों के माध्यम से रूपाकार देता है :

"मैं कुछ दिनों से
एक विचित्र
सम्पन्नता में पड़ा हूँ
और यह सम्पन्नता
न मुझे दवाती है
न मुझे घेरती है
हल्का छोड़े है मुझे
लगभग सूरज की किरन
पेड़ के पत्ते
पंछी के गीत की तरह
ऋतुओं की
व्यक्तिगत रीत की तरह।"[2]

यह सम्पन्नता क्योंकि भागवत है, इसलिए सूरज की किरन, पेड़ के पत्ते, पंछी के गीत, ऋतुओं की रीत—ये सब जीवन को धन्य करने, आनन्द से मालामाल करनेवाले, मन को खुशियों से भर देनेवाले हैं। अतः जहाँ भाव नहीं, वहीं अभाव हैं। अभावों की स्थिति भाव-विहीनता की स्थिति ही तो है। समूचे प्रकृति-वेश, अपने प्राकृतिक मूल वेश को, जो हम सदियों पीछे छोड़ आए हैं, कवि उसे उसकी आदि लयों-पहचानों में उठा रहा है। खोये हुए इस ख़ज़ाने को पाकर सम्पन्न अनुभव कर रहा है। इन पेड़-पौधों को वह अपनी पुरातन पहचान में, जो भारतीय धर्म-अध्यात्म के क्षेत्र में अभी भी प्राणवान मानी जाती है, कवि अपने समान प्राणी

---

1. अन्तरग साक्षात्कार, पृ. 31-32
2. व्यक्तिगत, पृ. 9-11

मानता है। 'आज कोई'—शीर्षक कविता में 'हवा', 'पंछी', 'पेड़', 'पौधे', आदि को 'मानवीय-चेतना' से सम्पन्न माना है। पूरी कविता उद्धृत करनी पड़ रही है ताकि समूचा भाव विस्तार में समझा जा सके :

"आज को जाएगा तन से
हल्के बिलकुल हल्के
मन से
हवा तव हल्की ही चलेगी
और पंछी तो तब
सबके सब
चुप हो रहेंगे
दो होंगे रास्ते
जानेवाले के वास्ते
नगर का छोड़ देगा वह
जाएगा वन से
वन की पगडंडियों से
गुज़रेगा
तो बड़े-छोटे पेड़-पौधे
थोड़े झुक जाएँगे
कामों में लगे हुए लोग
उसके निकल जाने तक
रुक जाएँगे
देखते-जानते रहे हैं वे लोग
उसे अपने-अपने बचपन से !"[1]

अब ये किसी के जाने-गुज़रने के दो रास्तों—नगर और वन के—में से 'वन के रास्ते का चयन' भवानी प्रसाद मिश्र के कवि की अपनी पसन्द है, जो उसके अन्तरंग की रुचि, प्रकृति ही नहीं मिट्टी की गन्ध की बात कह रही है। "मरने की बात ध्यान में आने पर भीतर से कोई कहता है कि नर्मदा में ही जल-समाधि ले लूँ।"[2] ऐसे गुज़रने के समय की पूर्व कल्पना उक्त कविता में आकार लिए हुए है। यह मात्र कल्पना ही नहीं, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह कवि का आदर्श भी है।

1. व्यक्तिगत, पृ. 123
2. अन्तरंग साक्षात्कार, पृ. 10

इसमें भीतर-बाहर दोनों ही पक्ष उद्घाटित हो आए हैं। कवि मानव-कृत प्रकृति के पक्ष में हैं, जो बाँधती नहीं, विकृत नहीं करती, मुक्त करती है, उदार बनाती है, जिसमें ऋत, सत् सुरक्षित हैं। जो प्रकृति और मनुष्य दोनों के अन्तः सत्य का रास्ता है, वही कवि भवानी के लिए प्रेय है, काम्य है।

परम्परित चिन्मयता और विवेक की आँख

भारत, इस धरती पर, एक ऐसा देश है जो भौतिकता के साथ उतना ही लिप्त है, जितनी उसकी रोज़मर्रा की आवश्यकताओं के लिए ज़रूरी है। दैहिकता को बनाए रखना जितनी लाचारी या मजबूरी है, उतनी भर भौतिकता उसको सहेजे रखती है, अन्यथा हर भौतिक संघटना, संरचना या तत्त्व के पीछे चिन्मयता को लक्षित करना, आँकना उसे प्रिय है। यह हमारे देश की सभी भाषाओं के साहित्यों के लिए सच है। फिर हिन्दी तो सन्तवाणी है। इसकी परम्परा किसी दरबार या राज की देन नहीं। इसे सन्तों ने पाला-पोसा है। चिन्मयता की परम्परा इस भाषा में सुरक्षित है, शायद इसीलिए यह जन-मन की वाणी भी बन सकी है तो जन पक्ष में रहने से विरोध और प्रतिकार के भावों की वाहक रही है। प्रतिकार भी धरती के जैसा व्यापक धैर्य-धर्मी, उसमें कहीं बाहरी उछाल नहीं। भीतर-ही-भीतर गहरे में बसे चिन्मय रूपों से मेल न खा पाने पर प्राकृतिक प्रतिकार के अस्फुट शब्दों ध्वनियों में मुखरित, तो कभी मात्र व्यवहार में प्रकट होता हुआ। कुछ भी अस्वाभाविक नहीं। स्वीकार-अस्वीकार के पीछे भीतर खुली विवेक की आँख से देखकर, समझकर, एक अबूझ-सा सामूहिक निर्णय जैसा व्यवहार ! यह तभी संभव होता है, होता रहा है यहाँ, क्योंकि मिट्टी में चिन्मयता की तलाश, उसे लक्ष्य करने-वाली विवेक की आँख कभी बन्द नहीं हुई। इस विवेक को पहचानना, इस खुली आँख का वरण करना भारत के साहित्यों-कलाओं की असली परम्परा रही है। भवानी प्रसाद मिश्र की वाणी उत्तरोत्तर भारतीयता की इस विशिष्टता को गहराई से अपने काव्य में सिद्ध करती है :

"शरीर एक फूल है
कैसा खिलता है वह
जब उसे
दिन के जैसा प्रकाशित
कोई साथी मिलता है।"[1]

---

1. नीली रेखा तक, पृ. 24

"कुम्हार के घर के
घड़े को
क्या मालूम था
कि वह
बार-बार
भरा जायेगा
और खाली
किया जायेगा
....
चेतन के
ये केतन
आसमान-भर
फहराते हैं।
जाते हैं माटी के पानी के
ये जीवन-दूत
शिखर से
सागर तक !"[1]

शरीर को खिला हुआ फूल मानना—उसके खिलने को दिन जैसा प्रकाशित साथी मिलने का परिणाम मानना—यानी मनुष्य के जीवन की खुशबू—आत्मिक गुणों की अभिव्यक्ति प्रकाश के बिना सम्भव नहीं। और यह प्रकाश मात्र ज्ञान नहीं—आत्मिक प्रकाश से भिज्ञ होना है।

दूसरे उद्धरण में 'कुम्हार', 'घड़ा', 'बार-बार भरा जाना', 'खाली किया जाना' जैसे प्रतीकार्थ एवं प्रतीक-धर्मी क्रियाएँ—जगन्नियन्ता, जीव और उसका पुन:-पुन: जन्म लेना आदि के अर्थों तक ले जाती हैं तो चेतन के ये ध्वज आसमान में—शून्य में ऊर्ध्वोन्मुखी आयामों में फहराते हैं अर्थात् मानव का जयघोष करते हैं। जीवन-दूत हैं ये चैतन्य-घट, जो गंगाजल की तरह हिमशिखर से प्रवाहित होते गंगासागर तक जाते—विलीन होते हैं, फिर पुन:-पुन: वही क्रियाएँ···। यहाँ पुनर्जन्म, उसके आवर्तन, जीव की चिन्मयता के गंध, प्रकाश, गीत के गुणों के आख्यान रचे गये हैं :

"नंगा एक फ़कीर
आकाश-गंगा की

1. नीली रेखा तक, पृ. 49-51

तरह
लेट जाता है
आकर
हर रात
मेरे सामने।"[1]

इस फ़कीर को उसके उघड़े—अनावृत्त रूप में देखनवाली पहले तो आँख चाहिए, फिर उसको अपने सामने—निकट देख पाने की कल्पना, इस पर भी "प्रकाशभर/दिखता है/उसका।"—का कथन स्पष्ट ही जिस आकाशीय आलोक-पुंज को अपनी रचना में उतार रहा है, वह कोई आज का नहीं, परम्परा का दिया हुआ है, वैंदिक है। तब फिर आज के भारत की स्थितियों में परोक्ष रूप में, इस प्रकाश दृष्टि, विश्वास और आस्था की पुन:स्थापना की कोशिश में भवानी भाई की वही सन्त-परम्परा की छटपटाहट है, जो हमें मिट्टी से ऊपर उठाने, महकाने और गतिशील बनाने में रत है।

---

1. 'आकाश गंगा', नीली रेखा तक, पृ. 52

अनन्त काल को चुनौती

हर युग में काव्य-प्रकृति और प्रवृत्ति के दबाव में कवि के उद्देश्य में भी अन्तर आना स्वाभाविक है, क्योंकि युग-बोध के बदलने से मानसिकताएँ भी बदलती हैं। मध्य युग में धर्म-सम्प्रदायों की विचार-दृष्टियों को आगे लाना कवि और कविता का मुख्य कार्य था तो काव्य-रूप में प्रबन्ध काव्य और महामानव नायकों की परिपाटियाँ भी थीं। रीतिकाल में अधिकांशतः मुक्त काव्य में नीति, श्रृंगार और भक्ति के छिटपुट विचारों-भावों को स्थान मिला तो महामानव नायकों को गौण स्थान मिला, दूसरी ओर लोक-भावना और जीवन दोनों प्रभावी हो उठे। आधुनिक युग में आते-आते हिन्दी कविता में सामाजिक उत्थान, राजनीतिक आज़ादी और जातिगत अस्मिता के जो स्वर भारतेन्दु युग में फूटे वे व्यापकतर होते गए। स्वतन्त्रता के बाद की अवधि में हर तरह के मोहभंग के उपरान्त नौवें दशक में आते महाकवियों की धारणा भी टूट-बिखर गयी। महाकवियों के स्थान पर 'बड़े कवि' की अवधारणा आयी है। जिसके अन्तर्गत 'बड़े प्रासंगिक' कवि आज वे हैं जो अपने समय, समाज और देश की चिन्ताओं से जुड़े हुए रचनारत हैं; और जिनके काव्य में अपने समय समाज की बड़ी-तीखी विसंगतियों-विडम्बनाओं को अनावृत्त किया गया हो और प्रभावी ढंग से हस्तक्षेप की छटपटाहट मूर्त्त होती हो। इस जीवन्त दखलंदाजी से ही विसंगतियों पर हमलाकर अपना जन या लोक पक्ष सिद्ध करना बड़े कवि के लिए ज़रूरी आधार के रूप में उभरा है। जन-पक्ष और ज़ोखिमभरे कथन की कसौटी ही मुख्य आधार बन गए हैं आज।

भवानी प्रसाद मिश्र ने अपनी कविताओं में अपने काव्यादर्श, काव्योद्देश्य और काव्य-प्रक्रिया पर भी लिखा है, भले ही अलग-अलग कविताओं में छितराये रूप में। 'नीली रेखा तक' (1984) में भूमिका-रूप में दी गयी अपनी कविता—'मैं क्यों लिखता हूँ' में लिखा है :

"मैं गिन सकता हूँ
सौ बातें
ऐसे सैकड़ों दिन
सैकड़ों रातें

जो मुझे
कविता की
मार्फ़त मिली हैं
और पहुँचाया है जिन्हें
मैंने दूसरों तक
कविता की मार्फ़त···
लगता है मुझे भीतर हा भीतर
कि ज़रूरत है
दुनिया को
किसी बड़े करिश्मे की
और करिश्मा बड़ा
अब
सिवा कविता के
और किसी चीज़ से
नहीं होगा
अलबत्ता
कविता सिर्फ़ मुझे नहीं
लिखनी है
एक दुनिया की
दुनिया को
लिखनी है
एक दुनिया की दुनिया को होना है कवि
पहले
महाकवि होता था कोई
एक आदमी
अब वैसा
नहीं हो सकता
सेना—जैसी
चाहिए अब
लाखों लोगों की
जुटाएँ जो
अपने को
कविता लिखने में
और गुंजा दें सारा आसमान

संवेदना से कहो
वेदना से कहो
मरे शब्दों से···"

कवि का विश्वास है कि अब संवेदना विहीनता की ओर बढ़ती इस मशीनी दुनिया में "फ़र्शों की तरह जमे हुए संवेदनाशून्य मन" तभी बदल पाएँगे जब सब लोग अपने माध्यमों के जरिये कविता को जीने लगें। ज़मीन तोड़ते हुए, लोहा ढालते हुए, इमारतें या मूर्तियाँ गढ़ते हुए किसी खतरे की दिशा में बढ़ते हुए सबके दर्द को गाएँगे—ऐसी कविता की अब अपेक्षा है। बीते हुए, और बीत रहे समय की पद चापें सुनता हुआ कवि भविष्य के रास्ते और खतरे को लक्ष्य कर खतरे की दिशा से, उपचार से हमें आगाह भी कर गया है। यह दूरदृष्टि अपने युग के बड़े दुःखों, बड़े दर्दों को, बड़ी त्रासदियों को चीन्हनेवाले कवि के पास ही हो सकती है। और उपचार में सभी कवि संवेदना और जीवन विरोधी शक्तियों के विरुद्ध सैनिकों की भाँति मोर्चा लेंगे तभी कविता—यानी मानवीयता जीवित रह सकती है। अपने समूचे काव्य के माध्यम से भवानी प्रसाद मिश्र अपने कथन को चरितार्थ करते लगते हैं। इस चरितार्थता को उनकी काव्य-भाषा, काव्य मुहावरे, चेतना, लोकपक्ष से जुड़ाव होने के कारण लोक जीवन से आए या उठाए बिम्ब-प्रतीक-विश्वास आदि सिद्ध करते हैं :

"मैं शब्द को सजाता हूँ
सबके हित में सजाता हूँ
सबके हित में
तुम्हारा भी हित है।"

भवानी भाई के काव्य में उनके लोकहितकारी विश्वास बड़े मुखर होकर आये हैं। उनका समूचा काव्य सर्वहित की साधना है। उनके शब्द कर्मप्रेरित शब्द हैं। उनकी आकांक्षा है, "शब्दों की धारा बहा सकूँ और उस शब्द-धारा में शब्द अचूक को कहने में न चूकें। शब्द की समग्रता में युग का स्वरूप सिमट आये। मन की जड़ता कट जाए और चैतन्य का प्रकाश भर दूँ। शब्दों में खुशबू के शिलालेख लिखे भी हैं—मैंने!"[1] अपने भाषा-शब्द सम्बन्धी आदर्श को उन्होंने कई बार अपने काव्य में भी तरह-तरह से कहा है :

"जिस तरह हम बोलते हैं,

1. अन्तरंग साक्षात्कार, कृष्णदत्त पालीवाल, पृ. 18

उस तरह तू लिख
और इसके बाद भी
हमसे बड़ा तू दिख।"[1]

इस बोलचाल की भाषा में, जो बड़ा और विशिष्ट आशय भरने की बात कवि कहता है, उसके पीछे 'शब्द-साधना' और 'शब्द-ब्रह्म' की भारतीय अवधारणाएँ हैं, उन्हें सदैव, आरम्भ से ही शब्द ने आकर्षित किया, वे अपने को अर्थ का नहीं, शब्द का कवि मानते हैं। उनकी धारणा है, "क्योंकि शब्द सरल नहीं होता। शब्द आग से भरा होता है—कलाकार की भीतरी आग का गोला है—सूर्य है—उसी से उसका अँधेरा अन्तर्जगत् एक क्षण में दमक उठता है—सुलग उठता है।"[2] यह आग और सुलगाने की शक्ति एक ओर है शब्द में तो दूसरी ओर आज तक की सारी भाव-सम्पदा शब्द में ही समाहित है, सुरक्षित है। "नर-नारी की स्वतन्त्रता इसी अर्थ में शब्द और अर्थ की स्वतन्त्रता है—वाणी का बड़प्पन है। अमावस की दीवाली है—सन्त मन में कबीर, नानक, नामदेव और गाँधी हैं।"[3]

ऐसा अटूट, अगाध विश्वास लेकर उन्होंने शब्द साधना की, उसमें सिद्धि भी पायी। वे सहज बोलचाल की भाषा में, जिसमें बातचीत करते थे, कविता का उनका लहजा भी वही था और पता नहीं चलता था कि बातचीत में कविता कब आरम्भ हो जाएगी। उन्होंने यह सिद्धि पायी तो उसके साथ ही पूरी संवेदना, ज्ञान, भाव की जाति—मन की संपत्ति के योग्य वारिस बन सके। वे कविता नहीं लिखते थे, ऐसा लगता था कि कविता उन्हें लिख रही है, क्योंकि वे शब्दों की उमंग और आवेग के प्रवाह में बहनेवाले कवि हैं और कविता का जादू जगानेवाले कवि भी :

"जब कभी हो जाता है
बोली का यह कवित्व
कवि्ता
तो फूटता है जादू।"[4]

शब्दों के जादू के रहते वे भाषायी शील के प्रति एक सच्चे कलाकार की तरह सजग हैं; बल्कि चौकन्ने क्योंकि भाषा-अभिव्यक्ति दोनों में ही अपनी निपुणता

---

1. गीत फ़रोश, पृ. 1
2. अन्तरंग साक्षात्कार, पृ 16
3. अन्तरंग साक्षात्कार, पृ. 18
4. त्रिकाल संध्या, पृ. 38

दिखाने के साथ शील-निर्वाह एक अत्यन्त कठिन सन्तुलन की माँग करता है, उद्धरण है :

"मेरा शब्द गाये
अन्तर-बाहर सब-कुछ
मगर सँभालकर शील को
मैं न किनारे को बुरा लगूँ
निकलकर बाहर
न अखरूँ डूबकर झील को !"[1]

अत: कहना न होगा कि भवानी प्रसाद मिश्र का काव्य अपनी भाषायी सहजता, बोधगम्यता, संप्रेषणीयता के लिए जहाँ सराहा जाता है वहाँ उन्होंने न केवल अपने लिए, बल्कि अन्य कवियों के लिए भाषाई आदर्श की कई-कई सूक्तियाँ कही हैं : जो बड़ी प्रेरक और सटीक भी हैं और अत्यन्त कवित्वपूर्ण भी। अपने अन्तर-बाहर को समान रूप से गाने की त्वरावाला कवि, कैसा अनूठा-सटीक प्रतीक चुनकर लाया है 'झील' का। इस झील में डूबना अपने भीतर उतरना है और इससे बाहर निकलना किनारे पर आना है, सामाजिकता के सम्मुख होना है ! झील को न अखरने और किनारे को बुरा न लगने के फ़िक्र में कवि का सन्तुलित रहना भारतीय सन्त परम्परा के आध्यात्मिक शील का साक्षात्कार करा देता है।

भवानी प्रसाद मिश्र का काव्य, यों सायास अधिक है, जैसाकि वे स्वयं स्वीकार भी करते हैं। जगह-जगह वक्तव्यों में और कविताओं में भी। फिर 'त्रिकाल संध्या' की सारी कविताएँ—सुबह-दोपहर-सायं नित्य धर्म-कर्म की तरह लिख पाना और 'व्यक्तिगत' की प्राय: अधिकांश कविताएँ भी उसी सायासता का उद्रेक हैं। " 'खुशबू के शिलालेख' का प्रारम्भिक असल में मैंने अपने छियालीसवें जन्मदिन पर शुरू किया था और कोई दस-पन्द्रह दिन तक उसमें रोज़ एक कविता नियम से खिलकर जोड़ता रहा"—('व्यक्तिगत' की भूमिका) किन्तु यह सायासता उनके मानसिक उद्वेगों के साथ लय होकर आयी है। भावों में रँगी और एक लम्बे अरसे के रियाज में, अभ्यास में से निकली—रँगी होने के कारण वैसी आरोपित सायासता नहीं रह जाती। तो भी जब कवि एक लम्बे अरसे तक त्रिकाल, प्रतिदिन नियमत: कविताएँ लिखने की ठानकर चल रहा हो, तो पीछे कितना ही तनाव क्यों न हो 'सृजन क्षण' में शैथिल्य आ जाना स्वाभाविक है। यह शैथिल्य सर्वाधिक उनकी

---

1. व्यवितगत, पृ. 160

रचना-क्रम की रचनाओं में मिलता है। कवि का कथन बिलकुल साफ़ है—"शब्द का उपयोग कविता और जीवन में मैंने गाँधी से ही सीखा। इसलिए मेरी कविता शब्दों की कविता है—शब्द परंपरा की कविता है—अर्थ परंपरा की कविता मानना उसे भूल होगी। मेरे लिए हर मायने में कविता शब्द विधान है।"[1] इन अर्थों में कवि के निकट कविता साधना, प्रार्थना, जीवन, संघर्ष, अभिव्यक्ति आदि विश्वासों का केन्द्र है। वह उससे जीवन की तरह जुड़ी है। मात्र कविता नहीं है, जैसे पहले होती थी, या जैसे आज हो रही है। दोनों अर्थों में भवानी प्रसाद मिश्र की कविता अलग है।

कोई बड़ा कवि, बड़ी सम्भावनाओंवाला कवि, अपनी सम्पूर्ण गतिशील, गहन प्रकृति से अपनी परम्परा से और उसके माध्यम से समूची मानव-परम्परा से जुड़ता है तो उसके सामने सदियों में अर्जित किए विश्वास-आस्थाएँ होती हैं, जिनके आधार पर वह सुदूर भविष्य में भी देख पाने की क्षमताएँ अर्जित कर लेता है। किन्तु इतना सब कुछ इतना सरल भी नहीं होता कि वह ठोस रूप में सीधे-सीधे काव्य में व्यक्त हो जाए। हाँ, उन सबके संकेत जरूर मिलते हैं। उन संकेतों के सहारे हम कवि के भीतर भी झाँक सकते हैं और भविष्य के लिए दिए गए संकेतों को भी नोट कर सकते हैं। किन्तु, तो भी न तो भविष्य सीधे उद्घाटित हो पाता है, न कवि का मन। अपनी सूक्ष्म अनुभूतिशीलता के बल पर, अपनी अन्त:प्रज्ञा के सहारे जब वह अमूर्त्त संकेतों को उतारता है तब उसे स्वयं को भी ज्ञात नहीं होता कि वह क्या-कुछ-क्यों दे रहा है! अपनी अन्त:प्रज्ञा के शिखर पर, प्राय: भाव की उच्च भूमि पर स्थित भवानी भाई के कवि ने भी जो रचा है, वह 'गूँगे के गुड़' जैसी बात ही है।

समझी जाकर भी समझ से परे, जानी जाकर भी न जानी गयी-सी। तब ऐसा कवि स्वयं कितना जाना जा सकता है? ऐसा कवि जो 'नेति-नेति' कह रहा हो, उसे पूरी तरह समझ-जान पाना कितना कठिन एवं दुष्कर कार्य हो सकता है! हम अपनी ओर से यहाँ कुछ न कहकर कवि के अपने शब्द ही उद्धृत करना पर्याप्त मानते हैं:

"सब कुछ न मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ
न बताऊँगा
इस तरह मैं तुम्हें ही नहीं
अनन्त काल को सताऊँगा
वह भी सब कुछ नहीं जानेगा मेरे बारे में
जो कुछ मानेगा आधा-आधा मानेगा मेरे बारे में।"[2]

---

1. अन्तरंग साक्षात्कार, पृ. 34
2. त्रिकाल सन्ध्या, पृ. 142

उक्त पंक्तियों में ज़रा भी अहंकार की छाया नहीं, बल्कि उस गहन अनुभूति-स्थली की ओर संकेत है, जहाँ कवि निवास करता है अन्त:प्रज्ञा के बल पर। यहाँ ऐसे पदों में अहंकार की बू सूँघनेवाले आलोचकों को भवानी भाई की सहज निश्छल सरल प्रकृति को ध्यान में रखकर समग्रता में निर्णय लेना होगा। वह अपने जीवन को ईश्वर की मरजी से तय किया हुआ और अपने को कुछ उद्देश्य को दिया हुआ मानते थे।[1] और यह उद्देश्य था अपने देशवासियों, विशेषकर ग़रीबों-किसानों की नियति को बदलना। उनके अभावों को दूर कर खाने, ओढ़ने, रहने भर को जुटाना, जिससे वे आज़ादी के बाद भी वंचित हैं।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे परिवर्तन के, समग्र क्रान्ति के पक्षधर थे। अहिंसक ढंग की क्रान्ति। क्रूर, अमानवीय, शोषक, अन्यायी हो आए सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक ढाँचे को तोड़-फोड़कर नये ढाँचे के पक्षधर थे। इसके पक्ष में उन्होंने स्पष्ट लिखा है :

"दीनता को मलीनता को भूख को वाणी दो
उलट पुलट की सम्भावना को पानी दो।"[2]

भारतीय किसान की भूख और दारिद्र्य को उन्होंने निकट से देखा-जाना था। उससे सम्पर्क में वे बराबर आते रहे। इसलिए अपने गाँव से कभी नाता नहीं तोड़ा। अपने गाँव-घर से आनेवाले अभावग्रस्तों के कई-कई काम वे दिल्ली में बैठकर निपटाते थे और उनके दु:ख से भर जाते थे।

भवानी भाई पूरे मन से समग्रता भाव का जीते थे। भाव यानी बाहर से शान्त सरल किन्तु भीतर से सदा स्नेह-जल से छलछलाती लबालब भरी निर्मल पारदर्शी झील, जो छूट भागना चाहती है अपने किनारों से और जा मिलना चाहती है धारा बनकर महाभाव सागर से, किन्तु रुकी-ठिठकी हुई है किन्हीं वृहत्तर परोक्ष संकेतों के लिए। अपने चारों ओर हरियाली, खुशबू और डहडहे जीवन के सपनों-संकल्पों को लिए। भवानी भाई भी ऐसे ही सपनों-संकल्पों के गहन आशयों को अपने काव्य से झलकानेवाले कवि हैं, जो अनन्त काल को चुनौती दे रहे हैं।

---

1. "मैं यहाँ बदलाव के लिए/भेजा गया था/
सात-सात/दिल के दौरों के बाद भी/
मैं हक नाहक नहीं/
सहेजा गया था।" (अनाम तुम आते हो), पृ. 42
2. गाँधी पंचशती, पृ. 338

गद्य-रचनाएँ

भवानी प्रसाद मिश्र ने स्वाधीनता की लड़ाई लड़नेवाले बड़े व्यक्तित्वों के सम्पर्क में साहित्यिक आँखें खोली थीं। उन्होंने विशेष रूप से गाँधी विचारों की दीक्षा ली और कर्मक्षेत्र में उतरे। उस दौर के लेखकों की भाँति उनका साहित्य सृजन भी अनिवार्य रूप से शाश्वत मूल्यों से जुड़ा है। ये मूल्य और नैतिक भी हैं राजनैतिक एवं और अपने में आध्यात्मिक-चेतना भी सँजोए हुए हैं। किन्तु ज्यों-ज्यों—आज़ादी के बाद के दशकों में से गुजरते आठवें दशक के मध्य तक अर्थात् इन्दिरा शासन के अन्त की ओर बढ़ते हैं, त्यों-त्यों राजनीतिक, नैतिक और आध्यात्मिक--तीनों ही मूल्य अलग-अलग छिटक जाते हैं, तीनों मूल्यों की बंदिश टूट-बिखर जाती है। किन्तु अपने पूर्व संस्कारों में बँधे मिश्र जी का सम्पूर्ण लेखन इस मूल्यबद्धता की गवाही देता है और मूल्यगत संघर्ष का प्रमाण बनता है। आज के परिप्रेक्ष्य में साहित्य का मूल संघर्ष मूल्यों की अपेक्षा वैयक्तिक संघर्षों में बदलता गया है। सामयिक और समकालीन मुद्दे अधिक हावी होते गए हैं। किन्तु मिश्र जी समकालीन सरोकार के साथ-साथ अपने साहित्यिक मूल्यों को कभी नहीं भूलते। इतना ही नहीं, कठिन-से-कठिन स्थिति एवं घोर संकट के समय भी वे शालीनता नहीं त्यागते थे। पद्य में भी नहीं गद्य में भी नहीं। गाँधीवादी मूल्यों मान्यताओं में निष्ठा के कारण भवानी प्रसाद मिश्र सामाजिक सरोकारों से गहराई से जुड़े हुए थे, और यह जुड़ाव जितना गहरा था उतना ही व्यापक भी।

गद्य की व्यावहारिक सम्भावनाएँ एवं व्याकरणिक व्यवस्था समाज की धड़कनों और ज़रूरतों ने अनुशासित होती हैं, सम्भवतः इसीलिए गद्य लिखना किसी भी कवि की कसौटी माना जाता है। अन्यथा कवि अपनी कल्पना एवं अनुभूति के अतिरेकी-सूक्ष्म आवेगों में किन्हीं भी सुदूर क्षितिजों तक उड़ान भर सकता है। और यों उसकी ठोस वैचारिकता कई-कई अर्थों, अर्थ-छवियों में झिलमलाती हुई आकर्षण का कारण तो बन सकती है, किन्तु सामाजिक व्यावहारिकता के लिए ठोस आधार नहीं भी दे सकती। मिश्र जी अपने काव्य में भी शब्द के आधार को नहीं छोड़ते और गद्य की व्यावहारिक व्यवस्था को अपनाते हैं। यह नहीं भूलना चाहिए कि मिश्र जी मूलतः और अन्ततः कवि हैं। उन्होंने कविता के मुहावरे को अपने लिए इस तरह गढ़ा कि उसमें बोलचाल का लचीलापन भी आ जाए और

लाक्षणिकता भी। गद्य को यों उन्होंने अपने लिए अनिवार्य नहीं माना और जब मजबूर हुए तभी लिखा, भूमिकाओं में या फिर एकाध पुस्तक रूप में। लिखित के बाहर छूट गयी अधिक अलिखित परम्परा के कवि हैं भवानी भाई। उस अलिखित किन्तु अनुभूत को वाणी देने में वे सक्षम रहे हैं, क्योंकि वे भाषा के व्यावहारिक पक्ष को, बोलचाल के मुहावरे में सिमट आए परम्परित अनुभूत को भी सहज ही सँभालते और सँजोते हैं। इसीलिए उसमें एक ओर चेतनागत गतिशीलता विद्य-मान है तो दूसरी और गहन अहसासों के नये—अर्थ आयाम ! एक ओर व्याकरणिक स्तर निभे हैं, तो दूसरी ओर लोक मानस की अनुगूंज व्याप्त है।

भवानी भाई गद्य में यों कविता जैसी निजी प्रवहमान पृथक् शैली और पहचान नहीं देते, तो भी जिस विषय को उठाते हैं उसे निजता के स्पर्श से रँगे बिना नहीं छोड़ते।

उनकी दो गद्य पुस्तकें उपलब्ध होती हैं। पहली पुस्तक 1981 में प्रकाशित 'जिन्होंने मुझे रचा' है। तो दूसरी 'कुछ नीति : कुछ राजनीति' है। प्रथम पुस्तक में हिन्दी साहित्य की तीन विभूतियों पर पृथक्-पृथक् तीन लम्बे लेख हैं। पं. बालकृष्ण शर्मा नवीन, पं. माखनलाल चतुर्वेदी और श्री पदुमलाल पन्नालाल बख्शी से सम्बन्धित अपने संस्मरणात्मक लेखों में उन्होंने उन तीनों के व्यक्तित्व की आन्तरिक और बाह्य खूबियों को उभारा है।

प्रथम संस्मरण, 'दुविधाहीन कवि, सुविधाहीन व्यक्ति : नवीन' में नवीन जी के व्यक्तित्व का बाहरी चित्रण करते हुए वे लिखते हैं, "बालकृष्ण शर्मा नवीन का नाम मन में आते ही आँखों के सामने एक तराशे हुए आदमी का चित्र खिच जाता है, छः फुट लम्बा, व्यायाम से सधा तथा बलिष्ठ शरीर, विशाल वक्षस्थल, वृषभ-स्कन्ध, दीर्घबाहु, कुछ लाली लिए हुए चिट्टा रंग, उन्नत भाल, नुकीली नासिका, बड़ी और पैनी आँखें, खिचे हुए होंठ और तेजयुक्त प्रभावशाली मुखमण्डल।" (पृ. 9) नवीन जी का जन्म अत्यन्त निर्धन परिवार में हुआ, किन्तु अपने परिश्रम, निष्ठा और लगन के बल पर सतत् ऊँचे उठते गए।

नवीन जी उच्चकोटि के कवि थे और भीतर से विवश हो जाने पर ही रचना करते थे, "यदि बाहर ने उनके भीतर को नहीं मथा तो उन्होंने अपनी आन्तरिक घड़ियाँ उसे कभी नहीं सौंपीं। और जब बाहर ने भीतर उतरकर हलचल पैदा की, वे बिना लिखे नहीं रह सके। उनकी प्रत्येक कविता के पीछे एक इतिहास है। उनकी कविताएँ उनके लिए मनोरंजन का साधन न होकर मजबूरी थीं। अपने समकालीनों की वे तरह व्यर्थ की पच्चीकारी एवं कल्पना की गगनविहारी गरिमा के कायल नहीं थे। उनके काव्य में कई बार तो ग्रामीण तरलता और सरलता तक है; नागरिक चटकचातुर्य तो लगभग है ही नहीं।" (पृ. 28) यहाँ एक सच्चे कवि की रचना प्रक्रिया का वर्णन ही नहीं, प्रत्युत सामाजिकता से जुड़ाव और संवेदना

की प्रामाणिकता की कसौटियों का उल्लेख है और यथार्थ के आग्रहों का अनिवार्य आधार भी, जो लेखन को वास्तविक उच्चता और सार्थकता प्रदान करता है। इतना ही नहीं, नगर या महानगर की प्रलोभनी चमकीली मुहावरेबाजी की बजाय ग्रामीण परिवेश और जीवन से जुड़ने पर ही असली सरलता एवं तरलता आ सकती हैं, तब बनावटी मुहावरे या नारे उछालने और अपनी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करने की बनावटी साहित्यिकता की ज़रूरत नहीं रहती। अतः संस्मरणों के माध्यम से सटीक टिप्पणी करने में भी भवानी भाई सिद्धहस्त हैं।

इसी प्रकार माखनलाल चतुर्वेदी जी के सम्बन्ध में 'एक और अद्वितीय माखनलाल जी' शीर्षक से लिए संस्मरण में उनके व्यक्तित्व की बाह्य-आन्तरिक रेखाओं को उभारते हुए लिखा है, "बहुत मामूली क़द, बड़ी स्वल्प-सी देह, खूब साफ़ रंग, पैनी और छोटी-छोटी आँखें, मोटी खादी का पहरावा और बातचीत में बुद्धि का पैनापन, मन की विशालता और हृदय का स्नेह।" (पृ. 42) चतुर्वेदी जी अपने सम्पर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को, बल्कि व्यक्तित्व को बड़ी गहराई से प्रभावित करते थे। उसे स्नेह, सहजता और आत्मीय स्पर्श और उदार प्रशंसा देते। देश-प्रेम की उत्कट भावना ने उन्हें अद्वितीय भी बनाया और 'भारतीय आत्मा' भी। " 'माँ' कविता मानो माखनलाल जी का व्यक्तित्व है, जिसकी तह को अगर आप उघाड़ दें तो आपको माँ मिले। दूसरी परत खोलकर देखें तो बहन दिखे। थोड़ा और खोलें तो शायद रस से भीनी प्रिया मिले और भी खोलें तो शायद मीरा मिले। और इसी तरह यदि आप इसकी तहों पर तह खोलते चले जाएँ तो आपको शायद इसमें समस्त भारतीय साहित्य का भूतकाल और उसके भविष्य की झाँकियाँ दिखें।" (पृ. 47)

माखनलाल जी के काव्य की उच्चता, विशालता एवं गहनता के आयामों का इससे उत्तम वर्णन सम्भव नहीं। उनके काव्यार्थ के विभिन्न स्तरों का ऐसा पैना, सटीक उल्लेख कर भवानी भाई ने अपने गद्यकार की पैनी दृष्टि ही नहीं, विषय पर अपनी पकड़ एवं वर्णन की क्षमता भी सिद्ध की है। माखनलाल जी के माध्यम से भवानी भाई व्यापक साहित्यिक परिवेश में आसानी से परिचित हुए। उनकी उदार पारिवारिक स्नेहशीलता और निकटता ने उनमें असीम आत्मिक बल उत्पन्न किया तो सरलता, सादगीपूर्ण लेखन शैली के आग्रहों के कारण उन्हें अनोखा जन-कवि भी बनाया।

तीसरा संस्मरण 'मेरे नेपथ्य की आवाज़ : बख्शी जी' है, जो प्रख्यात कथाकार, निबन्धकार, कवि एवं सम्पादक श्री पदुमलाल पन्नालाल बख्शी जी के सम्बन्ध में है। इस निबन्ध में सीधे साक्षात्कार से कम, परोक्ष रूप से मिली जानकारी के आधार पर अधिक चित्रण हुआ है। इसी कारण इस संस्मरणात्मक निबन्ध का शीर्षक उन्होंने 'मेरे नेपथ्य की आवाज़' रखा है। साथ ही अधिकांशतः सूचनाएँ उद्धृत

की गई हैं। बख्शी जी हिन्दी गद्य के निर्माताओं में महत्त्व का स्थान रखते हैं। पहले अनुवाद के माध्यम से फिर मौलिक लेखन द्वारा कथा, निवन्ध, उपन्यास आदि के क्षेत्र में योगदान और 'सरस्वती' जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका के सम्पादन के माध्यम से उन्होंने महत्त्व की भूमिका निभायी, वरना अध्यापन के क्षेत्र में भी ख्याति अर्जित की। 'हिन्दी साहित्य के विनोबा' पुकारे जानेवाले बख्शी जी का मत था, "कवि से प्रचारक हो जाने की माँग करना अन्याय है। जो लोग किसी राजनैतिक विचार क्षेत्र से प्रभावित हो जाते हैं वे सोचना छोड़ देते हैं। कविता, और तमाम चीज़ों की तरह ऐसे में असफल होकर रह जाएगी और मैं नहीं जानता कि अगर कविता असफल हो गयी तो फिर सफल क्या होगा।" (पृ. 91) साहित्यकारों का निर्माण करनेवाले बख्शी जी के प्रति मिश्र जी का कथन है, "मैं उनके अपने स्वल्प परिचय के बावजूद अपने ऊपर उनके असर को महसूस करता रहा हूँ और इसीलिए कहता भी रहा हूँ कि बख्शी जी मेरे नेपथ्य की आवाज़ हैं।" (पृ. 88) इन संस्मरणों से तत्कालीन साहित्यिक परिस्थितियाँ, साहित्यिक दृष्टिकोण एवं साहित्यिकों के परस्पर सम्बन्धों पर भी प्रकाश पड़ता है।

उनके गद्य में भाषा की सहज प्रवाही सरलता को देखें। नवीन जी की आत्मीयता, उदारता, विशालता आदि गुणों का वर्णन करते हुए लिखते हैं, "कोई भी व्यक्ति शीघ्र ही अपने को उनके परिवार का बना ले सकता था, इतना उदार था उनका मन, इतना विशाल था उनका आँगन। परिचय शीघ्र ही आत्मीयता में बदल जाता। मित्रता को वे व्यावहारिकता के स्तर पर न लेकर पारिवारिक स्तर पर लेते थे। उन जैसा सहायक-कृपालु-मित्र पाना वास्तव में बड़ा सौभाग्य था। मित्रों के लिए तो वे अपने प्राण तक न्यौछावर करने को तैयार हो जाते थे।" (पृ. 19) यह सहज प्रवाह व्यक्ति के भीतर के उन लोकधर्मी सहज उपलब्ध भारतीय गुणों के वर्णन के कारण है। और जिस त्वरा भाव से उत्पन्न हुआ है, उसमें स्वयं भवानी भाई के भीतर अपने गुणों की साकारता से मेल के कारण भी उसका सहज उद्रेकी प्रकार घटित हुआ है।

काव्यात्मक व्यंजकता, प्रांजलता एवं लालित्य भी रेखांकित करने योग्य गुण हैं उनके गद्य के। उपवन के मध्य में खिले फूलों की खुशबू विखेरती, रंग छिटकाती क्यारियाँ जैसी ये काव्यात्मक पंक्तियाँ :

"आन्दोलन के युग में उनकी पत्रकारिता तलवार-सी चलती थी।" (पृ. 18)

"माखनलाल जी जहाँ समझ में आते हैं वहाँ भी असाधारण होते हैं और जहाँ वे समझ में नहीं आते वहाँ भी असाधारण होते हैं।" (पृ. 59)

"वे (माखनलाल चतुर्वेदी जी) माता में निर्माता को देखते थे और इसीलिए चाहते थे कि कलाकार विश्व का निर्माण सभ्यता के आधार पर न करके संस्कृति के आधार पर करे।" (पृ. 48)

"देश-भक्ति के लिहाज से वे भारतीय आत्मा थे, किन्तु देश की संस्कृति का विचार करें तो वे महान भारतीय आत्मा थे।" (पृ. 48)

कुछ नीति : कुछ राजनीति

यह पुस्तक वस्तुतः भवानी प्रसाद मिश्र जी के भाषणों का संग्रह है। प्रायः लिखित भाषणों को ही यहाँ संकलित रूप दिया गया है, इसलिए इनमें संवादी मुहावरा मुखर है। इन भाषणों को प्रकाशित करने के पीछे प्रकाशक की मंशा भी यही रही है कि "ये भाषण यदि लिखित रूप में भी उपलब्ध हों तो अगली पीढ़ियों के लिए मूल्यवान धरोहर सिद्ध होंगे।" प्रस्तुत पुस्तक में कुल बारह निबन्ध हैं। विषय विविधता की दृष्टि से व्यापक क्षेत्र को समेटते हैं ये भाषण।

आरम्भ में अपनी ओर से 'आवश्यक मानकर' एक लेख है, जिसमें संस्कृति के इतिहास की पृष्ठभूमि तथा वर्तमान संस्कृतियों का स्वरूप, उन्हें प्रभावित करनेवाले तत्त्वों का वर्णन है। फ्रेडरिक केनयान के लेख 'आइडिया ऑफ़ इंगलिश कल्चर' का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं कि यह सज्जन अंग्रेज़ी संस्कृति की उदारता का बखान करते हैं, अनेक संस्कृतियों के उपयोगी तत्त्वों को आत्मसात करने के अंग्रेज़ी संस्कृति के गुण का वर्णन करते हैं परन्तु भारत का नाम कहीं नहीं लेते। जेम्स कजिन्स नामक दूसरे विद्वान द्वारा लिखी पुस्तक--'द रेनासां ऑफ इण्डिया' का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि इस लेखक ने पहले उद्धृत लेखक की इस बात के लिए आलोचना की है उसने अपने लेख में भारत का नाम क्यों नहीं लिया। पश्चिमी लेखक भारत का उल्लेख इसीलिए नहीं करते क्योंकि यह उनके शासन में रहा है और रोम या एथेन्स की संस्कृतियों का उल्लेख वे इसलिए करते हैं क्योंकि कालान्तर में ये संस्कृतियाँ या तो अपना स्वरूप खोकर अंग्रेज़ी संस्कृति जैसी हो गयी हैं या समाप्त हो गयी हैं, जैसे बेबिलोनिया या मेसोपिटामिया की संस्कृतियाँ। मगर भारत की संस्कृति सौ बदलावों के बीच अपनी प्रकृति को सँभालकर विकास करती रही हैं।

आवश्यक मानकर, अहिंसा-संस्कृति का आधार स्तम्भ, अहिंसा की प्रतिभा, लेखक गाँधी : एक लफ़्ज़े दर्द, गाँधी : खेत भी बीज भी, गाँधी : नीति, लियो तालस्ताय का दर्शन, इस व्याकुलता को समझिये, लोकतन्त्र में तन्त्र, भारत की राष्ट्रीयता, निर्माण की नयी दिशा, सर्वोदय पत्रकारिता। इन बारह लेखों में गाँधी, संस्कृति, लोकतन्त्र, राष्ट्रीयता, पत्रकारिता के विषय मुख्य हैं।

भारत की सभ्यता संस्कृति की उपेक्षा करनेवाले पश्चिमी लेखक जिस सत्य या

यथार्थ की बात करते हैं, वह मात्र बाहरी है। मात्र दुनियावी। उपयोगितावादी। अन्यथा भारत तो 'सत्य ही ईश्वर है' को मानकर सत्य की अनवरत खोज को ही ध्येय मानता है। सर्वदेश सर्वकाल में स्थित है यह सत्य। किन्तु संख्या में जिस भी देश में लौकिक सुविधाएँ प्राप्त करनेवाले व्यक्ति बढ़ जाते हैं और आध्यात्मिक सत्य को महत्त्व देनेवाले कम हो जाते हैं वह देश दुविधाओं में पड़कर विनाश की मंजिलें तय करता है। "पश्चिमी सभ्यता ने व्यावहारिक सत्य को सत्य की तरह प्रतिष्ठित करके सारी मानवता की जो हानि की है, उसका सहज अनुमान आज की उत्पन्न स्थिति दे देती है।" (पृ. 10) पश्चिमी सभ्यता, जो भौतिकता और प्रकट वस्तुवादी यथार्थ और सत्य को लेकर चलती है, ने आज विश्व को तीसरे सर्व-विनाशक महायुद्ध की सीमा पर लाकर खड़ा किया है तो मनुष्य-मनुष्य के मध्य विश्वास, मानवीय सद्भाव के आधारों को छलनी कर दिया है। इतना ही नहीं, परमाणु बम, विषैली गैसों, उल्का-उपग्रहों के गिरने के विविध-मुखी भय आज मानव को ग्रसे हुए हैं।

वर्तमान विश्व-दर्शनों का व्योरा देते हुए मिश्र जी मुख्यत: तीन प्रकारों का उल्लेख करते हैं। एक दर्शन स्नेह, करुणा और विश्वमैत्री का है; जो हिन्दू इस्लाम, बौद्ध आदि धर्मों पर आधारित है। दूसरा व्यक्ति की स्वतन्त्रता के साथ-साथ साधन-सम्पन्नता, सुरक्षा और पारस्परिक सहिष्णुता पर बल देता है। तीसरा दर्शन समाजवाद का है। इनमें से पहले दर्शन के पक्ष को मिश्र जी मानवता के अनुकूल पाते हैं। शेष दो को वे इन अर्थों में नापसन्द करते हैं, क्योंकि इन दोनों ने प्रथम को अपनी चपेट में लेकर अधमरा कर दिया है। यों आर्थिक दरिद्रता को समूल समाप्त करने के वह पक्षधर हैं। इसे वह मानवता के प्रति अपराध मानते हैं। उनका कथन है, "इसमें सन्देह नहीं कि आर्थिक दारिद्र्य किसी बड़े मूल्य का पोषण नहीं करता। दारिद्र्य तो समाप्त होना ही चाहिए, आर्थिक विषमता को समाप्त प्राय करना चाहिए।" (पृ. 12) क्योंकि दारिद्र्य के कारण व्यक्ति अपनी ही नहीं परिवेश की भी पहचान और सँभाल करने में असमर्थ होता है, तब वह मानव मूल्यों और मानवीयता के बड़े मूल्यों का पालन किस प्रकार कर सकता है।

यहीं पर मिश्र जी विख्यात समाजशास्त्री पिट्रिम सोरोकिन की दो पुस्तकों का जिक्र करते हैं—'सोशल एण्ड कल्चरल डायनेमिक्स' तथा 'द क्राइसिस ऑफ अवर एज़'। संस्कृति सम्बन्धी इन दोनों पुस्तकों में अपने विचारों को सोरोकिन ने बड़ी गहनता से रखा है। उन्होंने संस्कृति के तीन प्रकार गिनाए हैं—'आइडियानेशन', 'आइडियल' और 'सैंनसेट'। सबसे पहले समूचे विश्व में आइडियानेशन संस्कृति थी। इस संस्कृति में कोई बड़ा विचार समाज में आर्थिक, नैतिक आदि सभी क्षेत्रों में साँस की तरह सहेज कर और प्रवाहमान स्थिति में रहता है। काव्य, संगीत, कला, शिल्प, धर्म आदि में उसका रूप फलित होता है। हमारा सारा वातावरण—

हवा, पानी, आकाश, नदी, वन तथा फूल, फल आदि एवं उत्पाद आदि सब एक प्राण हो जाते हैं। "ऐसी ही संस्कृति में से 'तत्त्वमसि' और 'सोऽहम्' जैसी समस्त से एकाकार कर देनेवाली ध्वनियाँ जन्म लेती हैं। बारहवीं शताब्दी के बाद युरोप में यह संस्कृति क्षीण पड़ने लगी। यहाँ तक कि 'आइडियल' के सोपान से भी नीचे उतरकर वह ऐन्द्रिक, सैनसेट का रूप लेने लगी। माना जाने लगा कि केवल वही सत्य है जिसे हम छू सकते हैं, देख सकते हैं, अपनी इन्द्रियों के माध्यम से जिसका अनुभव कर सकते हैं।" (पृ. 14) मिश्र जी सोरोकिन के विचारों को बड़ी सूक्ष्मता से विश्लेषित कर उनका सार रूप में प्रतिपादन करते हुए अन्त में जिस संस्कृति-रूप की स्थापना करते हैं, वह एक दर्द और टीस का विषय है। "इन्द्रियगत मूल्य प्रधान होते गये और इन्द्रियातीत मूल्य क्षीण से क्षीणतर। सोलहवीं शताब्दी के बाद हम आज सारे संसार में सब कुछ भूलकर सुविधाएँ जुटाने और छीनने की जो दौड़ देख रहे हैं, वह इसी इन्द्रिय-प्रधान मूल्य की देन है। हम देखते हैं कि आज की हमारी संस्कृति का मुख्य स्वर पारलौकिक, धार्मिक, नैतिक और सर्वहितकारी न होकर इहलौकिक, धर्मनिरपेक्ष, राजनैतिक और स्वार्थपरक हो गया है।" (पृ. 15) परोक्ष रूप में भारतीय संस्कृति की भी उक्त परिणति को रेखांकित करते हुए और इसके पतन की पीड़ा को अनुभव करते हुए मिश्र जी इसके निदानस्वरूप एक अन्य पुस्तक लिखने का वायदा करते हैं, जो फिर कभी कार्यान्वित नहीं हुआ। हां, उस निदान की झलक गद्य रूप में न सही, उनके काव्य में विद्यमान है।

धर्म-अध्यात्म और सत्य के मूल्यों पर आधारित संस्कृति मूल रूप में अहिंसा को अपनी धुरी बनाकर गतिमान होती है। यों अहिंसा का विषय शताब्दियों से वैचारिक उद्वेलन का केन्द्र रहा है परन्तु पिछले पचास-साठ वर्षों से गाँधी जी ने उसे सीमित दायरे से बाहर निकालकर सक्रिय व्यवहार में रूपायित किया। भारत की खूबियों को समझने, अनुभव करनेवाले पश्चिमी विचारकों ने मुक्त कण्ठ से न केवल प्रशंसा की है, बल्कि 'सत्य', 'अहिंसा', 'प्रेम' के मूल्यों को सहेज रखने में तथा इनके माध्यम से विश्वकल्याण के मार्ग को प्रशस्त करने में भी भारत की ओर देखा है। अल्बर्ट स्वाइट्ज़र के शब्दों में "अहिंसा और प्रेम भारत की आत्मा है। वह अपनी आत्मा को कैसे नष्ट होने देगा? आत्मा को नष्ट हो जाने दिया तो वह टिकेगा किस चीज के बल पर।" (पृ. 22) मिश्र जी गाँधी और उनकी विचारधारा को भारत और विश्व की वर्तमान व्याधियों का निदान मानते हैं। उनका कहना है, "गाँधी के सामने व्यक्ति, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्र एक साथ तीनों चीज़ें थीं। वे मूलतः धार्मिक थे और धर्म का अर्थ उनके लेखे प्रेम के माध्यम से सत्य तक पहुँचना था क्योंकि वे जानते थे कि अन्त में सत्य के सिवा कोई दूसरी चीज टिकनेवाली नहीं है।" (पृ. 27) गाँधी समूची मानव जाति को नैतिकता के ऊँचे धरातलों पर उठाकर ले जाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने साधन की शुद्धता पर बल दिया। उन्होंने

अनुभूत सत्य का आधार रखा। प्रेमपूर्ण अहिंसा को माध्यम बनाकर इस अनुभव से कमाए हुए सत्य तक पहुँचने का मार्ग दिखाया। विदेशी लेखक गुंथर ने उन्हें, "ईसा, कृष्ण और कौटिल्य तीनों का समन्वय" (पृ. 47) बताया है। "गाँधी की यह दृष्टि ही हमें सर्वोदय से अन्त्योदय तक ले जाती है।" (पृ. 57) गाँधी जी की देश तथा विश्व को इस अभूतपूर्व देन को लेकर मिश्र जी ने प्राय: सभी भाषणों को साधन बनाया है।

'लेव तालस्ताय का दर्शन' के माध्यम से भी मिश्र जी विश्व के लिए धर्म-व्यवस्था को राजनीति का आधार सिद्ध करते हैं। किन्तु बाद के भाषणों में विशेषकर 'लोकतन्त्र का तन्त्र' और 'निर्माण की नयी दिशा' में भारत की वह तस्वीर उन्होंने उपस्थित की है जो गाँधीवादी मूल्यों-आचरणों के विपरीत सुविधा और स्वार्थ के मूल्यों पर चलनेवाले राजनीतिकों ने बनायी है। "फिर एक लम्बे अर्से के बाद गाँधी के नेतृत्व में काम करनेवालों की जगह शासन की बागडोर ज़्यादातर ऐसे लोगों के हाथ में आयी जो कभी-कभार गाँधी की गोद में बैठ गये थे, या थोड़ा-बहुत काम उन्होंने गाँधी के जमाने में किया था।" (पृ. 73) धीरे-धीरे प्रजातन्त्र में परिवर्तन आने लगा। और वह इस हद तक बदल गया कि उसे प्रजातन्त्र मानना ग़ैर-मुमकिन हो गया। "तमाम तौर-तरीक़े 'एकतन्त्रवाद' के अपना लिए गये, क़ानून जो लोक-तन्त्र से शासनतन्त्र के ऊपर रहता है, और भी ऊपर उठाकर ताक पर धर दिया गया और आम आदमी की ऊपर की साँस ऊपर, नीचे की नीचे रह गयी।" (पृ. 73) विश्व में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जब जनता की भलाई के नाम पर शक्ति जुटाकर उसे जनता के विरुद्ध ही इस्तेमाल किया गया। विश्व में बड़े-बड़े युद्ध भी इसी तरह लड़े गये हैं और बड़े-बड़े तानाशाह भी इसी तरह पैदा हुए हैं। "लोकतन्त्र की पीठ पर बैठे-बैठे शासक कभी-कभी लोगों की लापरवाही से नादिरशाहों में बदल जाते हैं।" (पृ. 77) जनता को स्वयं भी सजग रहना चाहिए। स्वतन्त्रता का मतलब आदमी को अपनी समझ और सूझबूझ से अधिक कार्य लेने से है और साथ ही ग़लत देखने पर उससे इनकार की छूट भी है। क्योंकि आज़ादी या स्वतन्त्रता एक ऐसा मूल्य है जिसकी रक्षा हर कीमत पर की जानी चाहिए।

'निर्माण की नयी दिशा' शीर्षक भाषण के अन्तिम छोर पर आकर मिश्र शासन-सत्ता के उन सन्दर्भों को छूते हैं, जो आपात्काल के दौरान शक्ति में थे। उस दौर की भारत की परिस्थितियों को काटने के लिए समाधान जुटाने के लिए वह कहते हैं, "हम छोटे-छोटे लोग जो गाँधी के अमृतस्पर्श से आज तक जीवन्त हैं, उठें और चलें और जवानों को साथ लें। हम जिन्होंने अँधेरा देखा था और उजाला लाए थे, उन्हें छाती से लगाएँ, जिन्होंने आज़ादी के बाद जन्म लिया, बड़े हुए और अँधेरा ही अँधेरा देखा।...हमारी आज की पद्धति प्रजातन्त्र और अधिनायकवाद का बुरे से बुरा मिश्रण है।...दूसरा कार्यक्रम किसानों के बीच जाने का है। वह

सबसे अधिक दबा-पिसा है। छोटे-से-छोटा सरकारी कर्मचारी फिर किसी विभाग का क्यों न हो बिना कुछ किए किसान की गाढ़ी कमाई का उपभोग करता है और उसे दीन और हीन मानता है सो अलग।" (पृ. 107) देश के युवाओं और किसानों को साथ लेकर चलने, समस्याओं के समाधान ढूंढ़ने की दिशा में बढ़ने के विचार तो मिश्र जी ने दिए ही हैं। वे इससे भी अधिक व्यावहारिक-क्रान्तिकारी सुझाव किसानों को एक और देते हैं कि यदि किसान अपनी ज़रूरत-भर का अनाज उत्पन्न करके शेष अनाज बाज़ार के लिए उत्पन्न ही न करें। अपने परिवार और पशुओं के खाने योग्य पैदा कर शेष ज़मीन छोड़ दें। "आप और आपकी सेना आपके तमाम कर्मचारी उसे जोत-बोकर खाएँ। फौज-पुलिस, कोरे शिक्षक निकम्मे साधु-सन्त, सांसद्, मन्त्री, प्रधानमन्त्री हल पकड़ सकें तो ठीक, न पकड़ सकें वे जानें। मैं तो मानता हूँ एक बार यह हो गया तो क्रान्ति हो जाएगी।" (पृ. 108) यों देश की सर्वविध समस्याओं, चिन्ताओं, अँधेरों से साक्षात्कार और गाँधीवादी विश्वासों-आस्थाओं के सहारे उनसे पार पाने के समाधानों की दिशाएँ सुझाना, फिर सामाजिक परिवर्तनों की ओर बढ़ने, क्रान्ति लाने के मौलिक सुझावों तक पहुंचनेवाले एक चिन्ताकुल चिन्तक का स्वरूप उभरकर हमारे सामने आ जाता है।

भवानी भाई ने जो भी लिखा, और कहा उसमें उनका कवि मन कभी चुप नहीं रहा। वह कवि मन, जिसने लोक और राग की भूमि पर आँखें खोलीं; भारतीय गाँव-देहात की पारिवारिकता की ऊष्मा एवं आवेग जिसे घुट्टी में मिले। गद्य में भी उनका काव्य-स्वभाव जगह-जगह उभर आता है। अतः आलोचकीय दृष्टि एवं सन्तुलन से वे कम ही बँधते हैं। जहाँ-तहाँ मौक़ा पाकर उदार टिप्पणियाँ करना उनके कवि—मन के प्रभाव को रेखांकित करता है, "नवीन जी महापुरुषों में भी महापुरुष थे। देवता कहना उनके मानव तत्त्व को अपमानित करना होगा। देवता मानव के दुःख-सुख, हर्ष-विषाद, गुण-अवगुण को क्या समझें?" (पृ. 19) नवीन जी के साथ अपने मधुर-स्नेही सम्बन्धों की तरलता की वजह से उन्हें लगभग देवता की कोटि में ले आते हैं। अन्यथा महापुरुष कहना भर क्या पर्याप्त न होता! एक तो 'पुरुष' होना ही कठिन, बल्कि दुर्लभ हो चुका हो जब, तब पुरुष होना भी अपने आपमें महत्त्व का विषय है। ऐसे में कोई अपनी गुणवत्ता एवं संवेदना, उदारता, निश्छलता, सहजता, मानवीयता आदि से छू ले, उपकार करे, वह महापुरुष हुआ। किन्तु महापुरुषों में महापुरुष तो देवतुल्य विलक्षणता का ही द्योतक है। यह मिश्र जी के स्वभाव का ही लक्षण है जो उनकी उदाराशयता को रेखांकित करता है।

इतना ही नहीं उनके गद्य में बीच बीच में कुछ काव्यमय उक्तियाँ भी लक्षित की जा सकती हैं, जो गद्य की रुक्षता को और तथ्यों-विवरणों की ऊब को सुखद काव्यास्वाद से रँग देती हैं :

"महाकाल के भाल पर ऐसा लाल टीका लगा दे कि मानवता का नामलेवा पानी देवा न बचे।"

(कुछ नीति : कुछ राजनीति, पृ. 101, 102)

"नम्रता की अपनी पहचान का नाम स्वाभिमान है।" (वही, पृ. 96)

"मैत्रीभाव को बढ़ाने से तमाम ज्ञान और आनन्द सहज हो जाते हैं।"

(वही, पृ. 96)

"हम सागर बनेंगे, तो बूंद-बूंद से। यों सागर हम हैं ही, मगर वह एक अलग नम्र दर्शन है। अद्वैत दर्शन है। यह अद्वैत दंभ या अहंकार का दर्शन नहीं है—नम्रता का दर्शन है।" (वही, पृ. 95-96)

अतः भवानी प्रसाद मिश्र अपने गद्य में, निजता का स्पर्श देकर जहाँ एक संवादी लय साधते हैं, वहाँ विदग्ध वैचारिकता से पाठक को उत्साह, कर्मण्यता, संघर्ष और इन सबके ऊपर सामाजिकता के बोध से भर देते हैं। उनका साहित्य सोद्देश्यता से अनुप्राणित और सदाशयता की धरती पर खिला है, जिसमें गाँधीवाद अगाध आस्था और श्वास की तरह प्रवाहमान है।

समकालीन मूल्यों का निर्वहन

भारतीयता का वेद कालीन सबसे बड़ा सन्दर्भ आज यदि कोई है तो वह व्यक्ति की सामाजिक भूमिका है। इतना ही नहीं समूचे परिवेश के साथ आत्मभाव में पारिवारिकता को जीना। भवानी प्रसाद मिश्र के काव्य का पूरा उठान और उभार इस एक तथ्य को बार-बार दोहराता है। इसका गहरा अहसास जगाता है। इस तथ्य को समझने के लिए 'त्रिकाल संध्या' में संग्रहीत कविता 'नि:स्व' को लें, जहाँ उक्त भाव को स्पष्ट अभिव्यक्ति मिली है :

"हमारा एक कण
ब्रह्माण्ड हो जाए
और कल्प बन जाए हमारा
एक क्षण।"[1]

"मगर जब हमारी राख फटकी जाएगी
तो जो कण उड़ेंगे
वे अनन्त से जा जुड़ेंगे
इसलिए कि
हम कभी नहीं जिए अपने ख्याल में।"[2]

मात्र अपने लिए, अपनी चिन्ताएँ लिए जीनेवाली विचारधारा भारत की कभी नहीं रही। आज यदि ऐसा कुछ कहीं दिखायी देता है तो वह निश्चय भारतीय नहीं है। व्यक्तिवादिता, अन्ध-स्वार्थपरता नहीं; बल्कि परार्थ, एवं परमार्थ और सामाजिकता एवं पारिवारिक रागात्मकता को भारतीय ग्रहण करता आया है। इसीलिए त्याग, उत्सर्ग, तप, सेवाभाव आदि के चरम रूप तथा आख्यान उपलब्ध होते हैं। उक्त मूल्य भारतीयता के आधार मूल्य हैं, जो विश्व के अन्य देशों के लिए अजूबा हो

---

1. त्रिकाल संध्या, पृ. 141
2. वही, पृ. 142

सकते हैं परन्तु भारत के लिए सहज-स्वाभाविक घटनाएँ हैं। भवानी भाई भी इस भाव के उद्‌गाता ही नहीं थे बल्कि जीवन-व्यवहार में वह इन्हें जीते भी थे। इसी-लिए परिवेश के साथ उनके सरोकार भी इन्हीं मूल्यों को ध्यान में रखकर रेखांकित किए जाने चाहिएँ। भारत के स्वतन्त्रता-पूर्व के काल में विरोध, विद्रोह की कविता अपनी सामाजिक भूमिका को बखूबी निभा पायी अपने इन्हीं सरोकारों के चलते। यों आधुनिकता के सन्दर्भों में भारतेन्दु काल से ही इसका आरम्भ हो चुका था, जिसे भारतेन्दु के साथ प्रताप नारायण मिश्र, श्रीधर पाठक, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि ने अपनी रचनाओं में व्यक्त किया। बाद से मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और निराला ने सामाजिक स्थितियों, विसंगतियों और अत्याचारों से उत्पन्न विचार को व्यंग्य की सान पर चढ़ाकर मारक बनाया। तत्कालीन स्थितियों में भारत की दुर्दशा और राष्ट्रीय हित विषय थे तो उत्तरोत्तर व्यक्ति और उसकी आर्थिक, सामाजिक दशाएँ विषय बनते गए। स्वतन्त्रता के बाद की हिन्दी कविता में पहले दिशाहीनता, आत्मपरायापन, निराशा, हताशा की छवियाँ अधिक हावी रहीं, बाद में ग़लत, अन्यायी, अत्याचारी, शोषक शक्तियों पर व्यंग्य-विचार के तीखे प्रहार मिलते हैं। ज्यों-ज्यों जीवन-समाज में विसंगतियाँ-विडम्बनाएँ बढ़ती गयीं त्यों-त्यों व्यंग्य प्रहार तेज़ होते गए। नागार्जुन, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और धूमिल की कई-कई कविताएँ इस व्यंग्य प्रहारी प्रवृत्ति की मिसालें हैं। क्योंकि व्यंग्य का इस्तेमाल सामाजिक परिप्रेक्ष्यों में कारगर असर रखता है, इसलिए लेनिन ने "रचनाकारों से लू-शुन की शैली को अपनाने की सलाह दी, जिसका मूल आधार व्यंग्य है।"[1] व्यंग्य कवि के आक्रोश को धार देता है, कथ्य को असरदार बनाता है तो असंगत पर चोट करता है। सम-कालीन कविता में व्यंग्य-विचार के इस तेवर के तहत भवानी प्रसाद मिश्र के काव्य में पर्याप्त कविताएँ मिलती हैं। 'गीत फ़रोश', 'परिवर्तन जिए', 'त्रिकाल संध्या' (और कुछ हद तक 'अँधेरी कविताएँ भी) में व्यंग्य-विचार-विक्षोभ के मिले-जुले प्रहारक स्वर मिलते हैं। गीत फ़रोश कविता सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्थाओं पर प्रहार करती है तो साथ ही मिश्रित अर्थव्यवस्था में कला, कलाकार की दुर्दशा पर भी प्रकाश डालती है :

> जी हाँ हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ
> तरह-तरह के गीत बेचता हूँ
> × × ×

---

1. डॉ. शिव कुमार मिश्र : मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन-इतिहास तथा सिद्धान्त, पृ. 210

कुछ गीत लिखे हैं मस्ती में मैंने
कुछ गीत लिखे पस्ती में मैंने
× × ×
जी, पहले कुछ दिन शर्म लगी मुझको;
पर बाद—बाद में अक्ल जगी मुझको,
जी, लोगों ने तो बेच दिए ईमान।[1]

जिस समाज में लोगों ने अपने ईमान बेच दिए हों, उस समाज में कलाओं का और कवियों का क्या महत्त्व रह जाता है। कवि को अपनी कविता बेचने को बाध्य करनेवाली स्थितियों की सर्जक शक्तियाँ कितनी घिनौनी और निकृष्ट हो सकती हैं, व्याज रूप में यह कविता उन पर प्रहार करती है।

भवानी प्रसाद मिश्र अपनी गाँधीवादी निष्ठा और आस्था के लिए विख्यात हैं। उन्होंने अपना जीवन वास्तव में गाँधीवाद से आरम्भ किया और अनेक प्रकार से अनेक पदों पर रहकर गाँधीवाद का प्रसार किया किन्तु विडम्बना देखें कि उसी गाँधीवाद के नाम पर जब उन्होंने नेताओं के भद्दे आचरण को देखा तो उनकी वाणी व्यंग्य प्रहार करने लगी। वस्तुत: व्यंग्य का जन्म स्थितियों की कचोट की वजह से होता है। डॉ. रमेश कुन्तल मेघ के शब्दों में विचार की पहली काव्यात्मक शुरुआत 'व्यंग्य' में हुआ करती है जो धार्मिक तथा दार्शनिक गम्भीरता का मुकाबला करता है। मध्यकाल में, कबीर ने तुलसी के मुकाबले में व्यंग्य के माध्यम से वैचारिक प्रखरता तथा विद्रोह को उजागर किया।[2] यही कार्य हम भवानी भाई के काव्य में सम्पन्न हुआ पाते हैं। जो कवि पहले शालीन और शान्त था अपने काव्य में बाद में यथार्थ की खुरदरी ज़मीन पर आ गया :

"बैठकर खादी की गादी पर ढलती हैं प्यालियाँ
और जब चढ़ जाता है नशा
भाषण होते हैं अंग्रेजी में गाँधी पर
ज़ोर-ज़ोर से बजती हैं तालियाँ।"[3]

गाँधी विचारधारा में 'स्वदेशी' का मूलगामी, केन्द्रीय मूल्य है जिसके साथ सादगी, चारित्र्य, भाषा और खादी के विशिष्ट राष्ट्रीय सन्दर्भ गुँथे हुए हैं। किन्तु जब कवि

1. गीत फ़रोश, पृ. 166
2. समकालीन कविता : विचार कविता, डॉ. बलदेव वंशी, पृ. 70
3. गाँधी पंचशती, पृ. 337

ने देखा राजनेताओं को 'खादी की गादी' पर बैठकर शराब पीते हुए और राष्ट्र-भाषा के स्थान पर अंग्रेज़ी में भाषण देते और वाहवाही लूटते तो उसका मन कड़-वाहट और घृणा से भर उठा। व्यंग्य में सना कोड़े फटकारने को विवश हो उठा। एक ओर स्वतन्त्र भारत के नेताओं की अमानवीयता, चरित्रहीनता, विदेशीभाषा प्रेम और क्रूरता तथा दूसरी ओर निम्न वर्ग की निर्धनता, फटेहाली, बेकारी और भूख :

"दिल्ली क्या है ?
मिली-जुली ऐश्वर्य और
दारिद्र्य की झाँकियों के सिवा।"[1]

आय के अनुपात की बात तो क्या जीवनगत स्थितियों को लेकर एक ओर ऐश्वर्य है तो दूसरी ओर भुखमरी। लोकपक्षीय आस्थाओं का कवि यह देखकर हत-प्रभ क्यों न हो। जबकि उसका कहना है कि "चतुर मुझे कुछ भी कभी नहीं भाया। न औरत, न आदमी, न कविता"[2] इस सन्दर्भ में यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि भवानी प्रसाद मिश्र का कवि अपने तीव्र प्रकाश के साथ तभी प्रकट हुआ जब देश में आपात् स्थिति की घोषणा हुई। उसका स्वर पहले से भी अधिक तिक्त, तीखा धारदार हो उठा। व्यंग्य प्रहार भी पहले से उदग्र। 'त्रिकाल संध्या' की सारी कविताएँ समूचे आपात्काल के दौरान लिखी गयी रचनाएँ हैं। सुबह-दोपहर-सायं—तीन समय भगवान का नाम लेने की धार्मिक भावना के स्थान पर कवि ने तीन समय प्रतिदिन इन कविताओं की रचना की। आपात्काल में सांवैधानिक नियमों का उल्लंघन और शासन-सत्ता का दुरुपयोग जिन लोकतन्त्रतात्मक विडम्बनाओं को सामने लाया उन पर प्रहार करते हुए 'चार कौए उर्फ़ चार हौवे' उनकी सर्व-प्रसिद्ध कविता है। उस समय शासन-सत्ता पर हावी चार व्यक्तियों को लक्ष्य कर लिखी गयी इस कविता के उल्लेख के बिना भवानी भाई के व्यंग्य काव्य की सार्थकता को नहीं समझा जा सकता :

"बहुत नहीं थे सिर्फ़ चार कौए थे काले
उन्होंने यह तय किया कि सारे उड़नेवाले
उनके ढंग से उड़ें, रुकें, खायें और गायें
वे जिसको त्योहार कहें, सब उसे मनायें···
इनके नौकर चील गरुड़ सब बाज हो गए।"[3]

---

1. खुशबू के शिलालेख पृ. 40
2. अँधेरी कविताएँ, पृ. 133
1. त्रिकाल संध्या, पृ. 10

'जुबान बन्दी' को 'अनुशासन पर्व'[1] कहना आदि और पुलिस सेना का निर्दोष नागरिकों पर खुलकर प्रयोग से प्रजातन्त्र कहाँ शेष रह जाता है—"कुछ लोग/प्रजातन्त्र मर गया कहकर/उदास हैं। जैसे ज़िन्दा था कभी। वह बेचारा।"[2] इतना ही नहीं, इसके विपरीत अधिनायकवादी प्रवृत्तियों के उभरने के स्पष्ट चित्रण उनके काव्य में विरोध की अपनी पूरी शक्ति को दर्शाते हैं :

"कैसा मज़ा है !
मुह खोला भर कि तैयार कोई सज़ा है।
दुःशानन को अनुशासन पर्व कहो तो ठीक
पुलिस और सेना की क्रूरता पर गर्व करो ठीक,
और यह भी कहो कि
एक ही व्यक्ति
देश है, एक ही व्यक्ति प्रजा है
ये कैसा मज़ा है।"[3]

भवानी प्रसाद मिश्र के काव्य में दो केन्द्र-बिन्दु साफ़ नज़र आते हैं। एक तो गाँधी-वादी काव्य—'गाँधी पंचशती' ग्रन्थ तो दूसरा आपात्काल के दौरान लिखा गया 'त्रिकाल संध्या'। इन दो उभारों के समय वे दो बार चर्चा के केन्द्र में आए और ख्याति अर्जित की। पहले वे गाँधीवादी आस्थाओं और अपनी निष्ठाओं की प्रस्थापना के कारण प्रसिद्ध हुए तो दूसरी बार अपनी शालीन व्यंग्य-विचार की तेज़ धारदार जन-पक्षीय कविताओं के कारण पहले से ऊँचे श्रद्धा के सिंहासन पर विराजे। अपने इस तेज़ तेवर और तल्ख़ स्वरों की दिशा में कवि फटकार और ललकार की भाषा में बोलता हुआ मिलता है। जब एक ही घोषणा के वाद सब कहीं चुप्पी और सकतेवाली स्थिति दिखायी दी तो कवि ने कहा :

"मैं ऊपर से देखता हुआ
गुस्से से भर गया
कि एक समूचा देश का देश
खोखली एक धमकी में मर गया
यह हालत चलने नहीं दी जाएगी।"[4]

---

1. त्रिकाल संध्या, पृ. 75
2. परिवर्तन जिएँ, पृ. 69
3. त्रिकाल संध्या, पृ. 120
4. वही, पृ. 27

कवि को अपनी ललकार और विचार तथा वाणी पर इतना भरोसा है कि वह मरे हुए में पुनः प्राण फूंककर उन्हें जीवित कर देगा और जब लाशें जागेंगी तब एक दूसरा जश्न मनाया जाएगा। यहाँ 'जश्न' से कवि की क्या मुराद है ? क्या विद्रोही-सक्रिय भूमिका, जो रक्तिम-हिंसक भी हो सकती है—से मुराद है या एकमात्र जीवित होने का उल्लास :

"मैं एक ही ज़िन्दा आदमी
इस ऊँचाई से आवाज़ लगाऊँगा
लाशों को जगाऊँगा।
लाशें जागेंगी
और नया एक दूसरा जश्न
मनाया जाएगा।"[1]

यह कहना न होगा कि कवि मात्र उल्लास की बात कर रहा है, प्रत्युत वह उस प्रलयकारी शिवत्व की बात कर रहा है, जो संहार के गर्भ में संकल्प रूप में छिपा रहता है। क्योंकि उसका विश्वास है कि "कर पाएगा हमें आश्वस्त। जननी का अभय भी। एक दिन होगी प्रलय भी"। प्रलय की, विनाश की कल्पना और कामना भी जन की चिन्ताओं के फलस्वरूप मंगलकामनाएँ लिए है, जो शोषण, हिंसा, अन्याय के विनाश से ही संभव है। कवि ने सत्ता, व्यवस्था, शोषक और पूंजीपति के 'खून सने'[2] जबड़े देख लिए हैं और उन जबड़ों पर लगे खून को पहचान भी लिया है, जो करोड़ों-करोड़ों निरीह-निर्धन देशवासियों का है और कवि निश्चय ही इन निरीह-निर्धन के साथ है। उन्हीं में से एक है। इसलिए विचार, व्यंग्य से होती हुई उसकी वाणी, विरोध के पड़ावों को पार करती विद्रोह तक पहुँचती है।

भारत गाँवों का देश कहलाता है और सर्वाधिक जनसंख्या ग्रामीण है। कृषि पर निर्भर इस देश के बहुसंख्य किसानों की स्थिति जिन शोचनीय हदों को पार कर गयी है, उसने कवि की निष्ठा को झकझोर दिया है। वह चाहते हैं कि सरल-सीधे ये किसान इस हद तक लुट-पिट चुके हैं और इनकी स्थिति आज बँधुआ

---

1. त्रिकाल संध्या, पृ. 28
2. आप सभ्य हैं क्योंकि आपके कपड़े महज बने हैं
   आप सभ्य हैं क्योंकि आपके जबड़े खून सने हैं।

मजदूरों जैसे हो गयी है, फिर भी ये खड़े क्यों नहीं होते।[1] विरोध क्यों नहीं जताते। विरोध और विद्रोह के मुखर स्वर क्रान्ति की हदों को छू रहे हैं :

"गाँववालों से अपना जीवन
चुपचाप क्यों
जीया जा रहा है
खड़े क्यों नहीं होते ये
तन कर क्रोध में
शहरी
इस संस्कृति कहलानेवाली विकृति के विरोध में।"[2]

भारतीय समाज में पिछले पैंतीस-एक वर्षों की कारगुजारियों के चलते एक वृहत्तर विभाजन यह हुआ कि शहरी और ग्रामीण संस्कृतियों जैसे निहित-स्वार्थी विभाजन उभर आए। गाँव और गाँववालों के शोषण पर पलते महानगर और महाशोषण के महाव्यापारिक संस्थान और नेता और लोग। गाँवों की उपज को कौड़ियों के मोल लेकर महँगे दामों वेचकर रातों-रात धनाढ्य होते गए विचौलिये। गाँव पीढ़ी-दर-पीढ़ी बँधुआ बने रह गये हैं। निर्धन और अपमानित। यह हमारे समाज का सन्तुलित विकास नहीं, विकृति है, जिसे संस्कृति माना जा रहा है। कवि इस स्थिति के विरुद्ध किसानों को खड़ा करना चाहता है। आज़ादी के सपनों को जिस कवि ने पाला-जीया है वह ऐसा अन्याय कैसे सह सकता है। अतः उसकी कविता समाज-सम्बद्धता में अपने समय में दखल देती हुई अपनी समकालीन भूमिका को भी निबाहने में पीछे नहीं रही।

समकालीन काव्य-मूल्यों के निर्वाह—अपने देश काल और वर्ग के प्रति संसक्ति एवं दायित्व बोध के रहते भी वे अलग और विशिष्ट इन अर्थों में रहे हैं कि जहाँ अन्य समकालीन नये कवियों के काव्य में उनकी स्वयं की पहचान उभरकर ऊपर आ जाती है और 'मैं' वाची स्वर कर्कश होकर फूटता है; गाली-गलौज से नफरत और हिंसा तक पहुँच जाता है; वहाँ भवानी भाई के काव्य में परिवेश और लोक उभरकर आता है। कवि का स्वर न तो कर्कश होता है न हिंसा-प्रतिहिंसा की दिशा अपनाता है। हाँ, एक दृढ़, आस्थावान, आत्मीय क्लेशों में भीगा हुआ

---

1. "गाँव तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी/उनके बन्धुआ मजदूर हैं/लातें खाएँ/ और खिलाएँ शहर वालों को/अपने खून-पसीने से/पैदा किए गये/सोने जैसे चमकते दाने।" —नीली रेखा तक, पृ. 101
2. अनाम तुम आते हो, पृ. 108

समग्र परिवर्तन के लिए व्याकुल स्वर है। निर्द्वन्द्व। पक्षधर। और दो टूक। अन्यायी, छली, वंचक, शोषक, उत्पीड़क के प्रति निर्मम डाँट और लताड़भरा। शोषित को झकझोर कर जगानेवाला। बाँह पकड़कर उसे खड़ा करनेवाला। स्थिति से अवगत करानेवाला। यथास्थिति को तोड़नेवाला। गाँधीवादी विचार के समतुल्य वे मानते थे कि व्यक्ति का आत्मबोध आत्मजागृति एवं आत्मविकास ही सामाजिक परिवर्तन के कारगर उपाय हैं। अन्यथा स्वतन्त्रता मिलने के बाद यह दुरवस्था न आयी होती। दूसरों द्वारा किये-रचे गए बाहरी उपायों से जो परिवर्तन आएँगे या लाए जाएँगे वे पहले की तरह ही अस्थायी और उथले सिद्ध होंगे।

जैसे नयी कविता के आरम्भिक काल में भवानी छायावादी अतिवादी कल्पना प्रभावों से बचे रहें और नयी कविता के उठान के काल-खण्ड में भावनावादिता की पकड़ से मुक्त रहे एवं 'अनुभूति की प्रामाणिकता' के मिथक से मुक्त रहकर 'संवेदना की प्रामाणिकता' से जुड़े रहे उसी प्रकार समकालीनता की फ़ैशनी या पेशेवर मुहावरेबाजी के घेरे में कभी नहीं घिरे। शुरू से ही उन्होंने 'लोक' और 'चेतना' का पल्लू कसकर पकड़ लिया तो फिर कभी छोड़ा नहीं। कई-कई वाद आए और चले गए। भवानी अपने को लोक-संवेदना से जोड़े रहे, उसी की चिन्ताओं और चिन्तन को केन्द्र में रखकर अपने काव्य को लोक को ही अर्पित करते रहे सच्चे अर्थों में। ऐसे दूसरे एक और लोक से जुड़े कवि हैं नागार्जुन, जो लोक तक सीधे-सीधे अपने स्वर को पहुँचाते हैं। किन्तु दोनों में विचारधारात्मक अन्तर के साथ-साथ काव्य-शैली एवं प्रकार तथा मुहावरे के पर्याप्त अन्तर भी लक्षित होते हैं। एक अन्तर का उल्लेख यहाँ अनिवार्य है। कवि नागार्जुन मार्क्सवादी विचार-चिन्तन के कवि हैं, भले ही उन्होंने भी चीनी आक्रमण के समय चीनी साम्यवाद की आलोचना-व्यवहार की आलोचना भी की तो भी वे समाज-परिवर्तन के हिंसक एवं सामूहिक उपायों को अनिवार्य उपाय मानते हैं; जबकि भवानी इन विचारों के विरोधी रहे हैं। गाँधी पंचशती में संकलित उनकी कविताएँ[1] सीधे तौर पर अपने वैचारिक विरोध को दर्ज करती हैं।

समकालीन कविता में 'नयी कविता' धारा की भाँति ही दो स्वर प्रवाहित हैं। मार्क्सवादी विचारधारा से अनुप्राणित स्वर और दूसरे अपने देश-परिवेश के अनुभवों से उद्भूत समस्याओं के समाधान के लिए भारतीय सांस्कृतिक (चेतना) विचारधारा के, जिन्हें लोहियावादी समाजवाद या जयप्रकाश नारायण द्वारा प्रवर्तित समाजवाद कह सकते हैं। स्वतन्त्रतापूर्व गाँधीवाद ने जो सामाजिक परिवर्तनकारी भूमिका निभायी वही भूमिका बाद में उक्त समाजवादी विचारधारा

---

1. **गांधी पंचशती**, पृ. 113, 148, 305 पर कविताएँ तथा पत्र साम्यवादी मित्र को, साम्यवादी मित्र से, चीनी हमला।

(लोहियावादी-जयप्रकाशवादी) ने भी निभायी। भवानी प्रसाद मिश्र इसी दूसरी विचारधारा को अपने काव्य का मुखर-स्पष्ट आधार मानकर इससे जुड़े। उनके काव्य में यदि साम्यवाद की आलोचना मिलती है (उक्त कविताओं में) तो गाँधीवाद-समाजवाद की स्वीकृति भी। समकालीन कविता के कम ही कवियों में यह स्पष्टता है। विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय आदि समाजवादी कवियों में भी यह स्वीकृति मिलती है। परन्तु कहीं-न-कहीं उनके काव्य में संप्रेषणगत दुरूहता उन्हें उस वृहत्तर लोक के साथ नहीं जोड़ती जिस लोक या जन की परिकल्पना लोहिया या जयप्रकाश नारायण ने प्रस्तुत की थी। भवानी की वैचारिक स्पष्टता उनके काव्य में उद्दाम प्रवाह बनकर प्रवाहित है। उसमें वैचारिक कतर-ब्योंत नहीं, न मंथरता, न ठिठककर औरों के अनुमोदन की चिन्ता, न आलोचनाओं का भय, न आन्दोलनों की फ़िक्र। उनकी फ़िक्र लोक की या जन की उस करुणा से जुड़ने की रही, जो आज़ादी के लिए जूझा और लुटा-पिटा उपेक्षित है। इस विडम्बना से उपजी वेदना से जुड़ी चिन्ताओं से जुड़ना और इन तक अपनी कविता के माध्यम से पहुंचना कवि की फ़िक्र का विषय रहा है।

फिर लौटकर यह तथ्य पुनः दोहरा लें कि लोक से जुड़ना उनका नयी कविता की प्रकृति का जुड़ाव नहीं था, जहाँ दर्द के प्रति दूरस्थ सहानुभूतिशीलता तो है, स्वयं दर्द के केन्द्र पर स्थित हो ताप में घुलती हुई विचलित करनेवाली स्वानुभूतिशीलता नहीं। भवानी में समकालीन कविता की दर्द की स्वानुभूतिशीलता थी। आत्मीय करुणा के आयाम तभी सम्भव हुए हैं, उनकी कविता में, क्योंकि वे स्वयं को चेतना-स्तरों पर 'कण' की भाँति 'ब्रह्माण्ड' से जुड़ा हुआ पाते हैं। ऐसे आत्मीय देशज अनुभूति के आयाम हैं एक तरफ़ तो दूसरी ओर अनन्त काल के आयामों का बोध और उनसे जुड़ने की लालसा। क्योंकि पुनः-पुनः सिद्ध यह ऐसा भारतीय सांस्कृतिक वैचारिक आधार है जो व्यक्ति को 'सिर्फ़ अपने ख्याल' में जीने के स्वार्थवादी घेरे में नहीं बाँधता। अतः भवानी यदि साम्यवादी नहीं हैं तो पश्चिमी व्यक्तिवादी विचारधारा के भी पक्षधर नहीं हैं, जो व्यक्ति को उसके निज के स्वार्थ-चिन्तन या हित में बाँधकर अकेला कर देता है। भारत में, भवानी के विचारों में, अकेले की मुक्ति कभी नहीं चाही गयी। इसीलिए उन्हें कहना हुआ कि 'जब हमारी राख भी फटकी जाएगी/तो जो कण उड़ेंगे/वे अनन्त से जा जुड़ेंगे'। उक्त सोच पीढ़ियों, दशकों में बाँटकर देखने के नजरिये को झुठलाते हैं तो अपने समय के प्रश्नों को उठाते, उनके उत्तर अपने ही समाज, परम्परा और संस्कृति में तलाशते हैं। यथास्थिति को तोड़ने के लिए लोक की अदम्य जिजीविषा, जीवनी-शक्ति, विश्वास और आस्था से जुड़कर ग़लत को चुनौती देने की क्षमता अर्जित कर जोखिम भी उठाते हैं।

चयन

गीत फ़रोश

जी हाँ हुज़ूर, मैं गीत बेचता हूँ।
मैं तरह-तरह के
गीत बेचता हूँ;
मैं सभी किसिम के गीत
बेचता हूँ
जी माल देखिए दाम बताऊँगा,
बे काम नहीं है, काम बताऊँगा;
कुछ गीत लिखे हैं मस्ती में मैंने,
कुछ गीत लिखे हैं पस्ती में मैंने;
यह गीत, सख्त सरदर्द भुलायेगा।
जी, पहले कुछ दिन शर्म लगी मुझको
पर पीछे-पीछे अक्ल जगी मुझको;
जी, लोगों ने तो बेच दिए ईमान।
जी, आप न हों सुनकर ज्यादा हैरान।
मैं सोच-समझकर आखिर
अपने गीत बेचता हूँ;
जी हाँ, हुज़ूर मैं गीत बेचता हूँ।

यह गीत सुबह का है, जाकर देखें;
यह गीत ग़ज़ब का है, ढाकर देखें;
यह गीत ज़रा सूने में लिक्खा था,
यह गीत वहाँ पूने में लिक्खा था।

यह गीत पहाड़ी पर चढ़ जाता है;
यह गीत बढ़ाये से बढ़ जाता है,
यह गीत भूख और प्यास भगाता है;

जी, यह मसान में भूत जगाता है;
यह गीत भुवाली की है हवा हुज़ूर
यह गीत तपेदिक की है दवा हुज़ूर
मैं सीधे-साधे और अटपटे,
गीत बेचता हूँ;
जी हाँ, हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ।

जी, और गीत भी हैं, दिखलाता हूँ;
जी, सुनना चाहें आप तो गाता हूँ;
जी, छन्द और बे-छन्द पसन्द करें—
जी, अमर गीत और वे जो तुरत मरें।
ना, बुरा मानने की इसमें क्या बात,
मैं पास रखे हूँ कलम और दावात···
इनमें से भाये नहीं, नये लिख दूँ ?
जो नये चाहिए नहीं, गये लिख दूँ।
इन दिनों कि दुहरा है कवि-धन्धा;
हैं दोनों चीज़ें व्यस्त, क़लम, कन्धा।
कुछ घंटे लिखने के, कुछ फेरी के
जी दाम नहीं लूंगा इस देरी के।
मैं नये पुराने सभी तरह के
गीत बेचता हूँ।
जी हाँ हुजूर मैं गीत बेचता हूँ।
जी गीत जनम का लिखूं, मरन का लिखूं;
जी, गीत जीत का लिखूं, शरन का लिखूं;
यह गीत रेशमी है, यह खादी का,
यह गीत पित्त का है, यह बादी का।
कुछ और डिजाइन भी हैं, ये इल्मी—
यह लीजे चलती चीज़ नयी, फ़िल्मी।
यह सोच-सोचकर मर जाने का गीत,
यह दुकान से घर जाने का गीत,
जी नहीं, दिल्लगी की इसमें क्या बात ?
मैं लिखता ही तो रहता हूं दिन-रात।
तो तरह-तरह के बन जाते हैं गीत।
जी रूठ-रूठकर मन जाते हैं गीत।

जी बहुत ढेर लग गया हटाता हूँ,
गाहक की मर्जी—अच्छा जाता हूँ।
मैं बिल्कुल अन्तिम और दिखाता हूँ—
या भीतर जाकर पूछ आइए, आप।
है गीत बेचना वैसे बिलकुल पाप;
क्या करूँ मगर लाचार हारकर
गीत बेचता हूँ।
जी हाँ, हुजूर मैं गीत बेचता हूँ।

कुछ बातें करें

आओ कुछ बात करें, बात करें छोटी-बड़ी
संध्या की घड़ी में आज बादल सजाये साज
पाकर प्रकाश रंग पूरब में पच्छम में बीच में आकाश के
आग-सी लगाये हैं
आओ हम बात करें देश की विदेश की
आग यदि लगी है भीतर
आग यदि लगी है बाहर
लपटें लपटती हैं हम पर झपटती हैं
और यदि किसी के प्राण लपटों से डरते हैं
मरते हैं हज़ारों यदि बन्द कारागारों में
अन्न यदि नहीं है आज अपने बाज़ारों में
यों कि लोग लड़ रहे हैं बाहर विदेशों में
और हम गुलाम हैं
पूछे बिना हम से
सम्भव है कुछ तो करना
डरना नहीं है हमें ऐसी परिस्थिति से
कायर की भाँति हमें रोकर नहीं मरना

आओ हम बात करें
साँझ को बनाएँ रात, रात को प्रभात करें
सम्भव है प्रभात में हम फिर से चलेंगे कल
अपने घरों की तरफ़

अन्नहीन भाषाहीन आशा-बिन डरों की तरफ़
पशुओं-से सहनशील, भार-गुरु-वहनशील
अपने ही लोगों में
जिनमें हमारे पिता जिनमें हमारी माता
जिनमें हमारे भाई जिनमें हमारी बहन
जिनमें धनी हैं और जिनमें ग़रीब हैं
जिनमें दबा है यह जिनमें चपा है वह
जिनमें मरा है एक जिनमें खपा है वह

फिर से चलेंगे जब अपने घरों की तरफ़
अन्नहीन भाषाहीन आशा-बिन डरों की तरफ़
सड़कों पर मिलेंगे हमें सड़कों पर दिखेंगे हमें
ऐसे अनेक दृश्य जिनमें से एक एक दृश्य
छाती को फाड़ दे
आँखों में लगा दे आग मन को बिगाड़ दे
गाँधी आज बन्द है नेहरू आज बन्द है
अस्तव्यस्त देश का बिखरा हुआ छन्द है
और कुछ मसीहाओं का कहना है घुटने टेको
मित्र देश जीतेंगे क्योंकि रूस साथ है
और यदि रूस जीता जीत गयी मानवता
जग में समानता का नीर वह बहा देगा
भारत को सेंतमेंत आज़ादी गहा देगा !

आज़ादी किसी के दिये मिलती नहीं है भाई
लेना उसे पड़ता है
और उसे लेने की योग्यता का अर्थ है
आपस का ऐक्य और मरने की क्षमता
गाँधी ने हमेशा हमें इतना सिखाया है
और इसे साधने का रास्ता दिखाया है
अपनी उतावली में चूक हम जाते हैं
किन्तु हर चूक हमें आगे बढ़ाती है
और इस चूक से भी आगे बढ़े हैं हम
इसीलिए सोचता हूँ आओ हम बात करें
सोचें निष्कर्ष ठीक रात को प्रभात करें

('गाँधी पंचशती' से)

बाहर जब चलेंगे हम
दुविधा न होगी मन में सूरज-से जलेंगे हम
हिम्मत बँधाएँगे
कोई जीते कोई हारे हमको तो समान सारे
हमें द्वेष इससे है न हमें द्वेष उससे
आशा भी नहीं है हमें अपने सिवा औरों से
गुज़रे हैं आफ़त और साँसत के दौरों से जैसे हम पचीसों बार
वैसा ही एक और दौर इसे समझें
और मुझे लगता है आखिरी है दौर यह
हिन्दू और मुसलमान मिलकर खड़े रहें
तो यह देश अपना सिद्ध यह करेगा जग में
बिना रक्तपात किए होता है पूरा कैसे
समता का स्वतन्त्रता का बन्धुता का सपना !

('गाँधी पंचशती', जुलाई, 1943 से)

भारतीय समाज

कहते हैं,
इस साल हर साल से पानी बहुत ज्यादा गिरा
पिछले पचास बरसों में किसी को
इतनी ज्यादा बारिश की याद नहीं है

कहते हैं, हमारे घर के सामने की नालियाँ
इसके पहले इतनी कभी नहीं बहीं
न तुम्हारे गाँव की बावली का स्तर
कभी इतना ऊँचा उठा
न खाइयाँ कभी ऐसी भरी थीं न खन्दक
न नरबदा कभी इतनी बढ़ी थी न गंडक

पंचवर्षीय योजनाओं के बाँध पहले नहीं थे
मगर वर्षा में तब लोग एक गाँव से दूर-दूर के गाँवों तक
सिर पर सामान रखकर यों टहलते नहीं थे
और फिर लोग कहते हैं

ज़िन्दगी पहले के दिनों की बड़ी प्यारी थी
सपने हो गये वे दिन जो रंगीनियों में आते थे
रंगीनियों में जाते थे
जब लोग महफ़िलों में बैठे-बैठे
रात-रात भर पक्के गाने गाते थे
और आँखें खोलकर कान खोलकर मुँह खोलकर
अवाक् होकर सुनते से लोग पक्के गाने

कमवख़्त हैं अब के लोग और अब के दिन याने
क्योंकि अब पहले से ज़्यादा पानी गिरता है
और कम गाये जाते हैं पक्के गाने

और मैं सोचता हूँ ये सब कहनेवाले
हैं शहरों के रहनेवाले
इन्हें न पचास साल पहले खबर थी गाँवों की
न आज है !

ये शहरों का रहनेवाला ही
जैसे भारतीय समाज है !!

व्यर्थ विकास

मैं तुम्हें अपना वसन्त देता हूँ
और पतझड़ माँगता हूँ
उदारता नहीं है इसमें कोई
एक खोई-खोई-सी धुन है मेरा वसन्त मेरे लिए
मैं कभी इसके मारे पल-भर उदास नहीं रह पाया
उदासी के मौसम में भी हँसता फिरा हूँ
पकड़कर हवा का आँचल
धरती के इस छोर से धरती के उस छोर तक
शाम से भोर तक
सिवाय खिलने के कुछ सोच नहीं पाया

और भोर जब आया
कर नहीं पाया कुछ और सिवाय खिलने के
सुख से गले मिलने के जितने प्रकार हो सकते हैं
मुझे भोगने पड़े हैं
प्रतिपल चुम्बन जड़े हैं मैंने असल सौन्दर्य के भाल पर
काल के राजपथ को मैं प्रतिपल फूलों से भरता रहा हूँ
सुगन्ध ही झरता रहा हूँ रात-दिन वातावरण में
चुपचाप किसी चरण में
पड़े रहने का समय ही नहीं मिला
मैं व्याकुल हूँ अब वैसे पलों के लिए
अपना वसन्त उतारकर रख देना चाहता हूँ
बल्कि दे देना चाहता हूँ तुम्हें
क्योंकि तुम अपने पतझड़ की शिकायत कर रहे थे
मैं तुमसे तुम्हारा पतझड़ माँगता हूँ
उदारता नहीं है इसमें क्योंकि
इस तरह मैं फूल पंखुरी देकर रस खींचनेवाली जड़ माँगता हूँ

पतझड़ पाकर शीर्ण होना सीखूंगा
विलास-विकीर्ण अपना जीवन समेट लूंगा जड़ में
और फूलपात की गरिमा से हीन
विलीन किसी रूप की शोभा समझूंगा
कुहरे से लदी हवा की साँस को
अपने फेंके हुए पत्तों से
थोड़ा और तेज़ करूँगा
ऊपर-ऊपर से मरूँगा
जियूंगा भीतर-भीतर सिमटकर अपने प्राण से

राशि-राशि फूल और गन्ध
और गान से छूटकर और खुलकर हल्का हो जाऊँगा
ठीक सिमटते और सटते बनेगा इस तरह
बहुत अधिक सुख की भीड़-भाड़ से
हटते बनेगा इस तरह
पेड़ की गहरी जड़ के छोर तक

रात से भी अँधेरे और ठण्डे पानी की तहें
अब मेरी साँसों में रहें
ऐसा जी हो रहा है और मैं तुम्हें वसन्त देता हूँ
पतझड़ माँगता हूँ
उदारता का कुछ नहीं है इसमें
क्योंकि इस तरह मैं पँखरी देता हूँ जड़ माँगता हूँ !

('गांधी पंचशती' से)

बुनी हुई रस्सी

बुनी हुई रस्सी को घुमाएँ उल्टा
तो वह खुल जाती है
और अलग-अलग देखे जा सकते हैं
उसके सारे रेशे

मगर कविता को कोई
खोले ऐसा उल्टा
तो साफ़ नहीं होंगे हमारे अनुभव
इस तरह
क्योंकि अनुभव तो हमें
जितने इसके माध्यम से हुए हैं
उससे ज़्यादा हुए हैं दूसरे माध्यमों से
व्यक्त वे ज़रूर हुए हैं यहाँ

कविता को
बिखरा कर देखने से
सिवा रेशों के क्या दिखता है
लिखनेवाला तो
हर बिखरे अनुभव के रेशे को
समेटकर लिखता है !

('बुनी हुई रस्सी' से)

व्यक्तिगत

मैं कुछ दिनों से
एक विचित्र
सम्पन्नता में पड़ा हूँ

संसार का सब कुछ
जो बड़ा है
और सुन्दर है

व्यक्तिगत रूप से
मेरा हो गया है
सुबह सूरज आता है तो

मित्र की तरह
मुझे दस्तक देकर
जगाता है

और मैं
उठकर घूमता हूँ
उसके साथ

लगभग
डालकर हाथ में हाथ
हरे मैदानों भरे वृक्षों

ऊँचे पहाड़ों
खिली अधखिली
कलियों के बीच

और इनमें से
हर मैदान वृक्ष
पहाड़ गली

और कली
और फल
व्यक्तिगत रूप से

जैसे मेरे होते हैं
मैं सबसे मिलता हूँ
सब मुझसे मिलते हैं

रितुएँ
लगता है
मेरे लिए आती हैं

हवाएँ जब
जो कुछ गाती हैं
जैसे मेरे लिए गाती हैं

हिरन
जो चौकड़ी भरकर
निकल जाता है मेरे सामने से

सो शायद इसलिए
कि गुमसुम था मेरा मन
थोड़ी देर से

शायद देखकर
क्षिप्रगति हिरन की
हिले-डुले वह थोड़ा-सा

खुले
झूठे उन बन्धनों से
बंधकर जिनमें वह गुम था

आधी रात को
बंसी की टेर से
कभी बुलावा जो आता है

व्यक्तिगत होता है
मैं एक विचित्र सम्पन्नता में
पड़ा हूँ कुछ दिनों से

और यह सम्पन्नता
न मुझे दबाती है
न मुझे घेरती है

हलका छोड़े है मुझे
लगभग सूरज की किरन
पेड़ के पत्ते

पंछी के गीत की तरह
रितुओं की
व्यक्तिगत रीत की तरह

सोने से सोने तक
उठता बैठता नहीं लगता
मैं अपने आपको

एक ऐश्वर्य से
दूसरे ऐश्वर्य में
पहुँचता हूँ जैसे

कभी उनकी तेज़
कभी सम
कभी गहरी धाराओं में

सम्पन्नता से
ऐसा अवभृथ स्नान
चलता है रातों दिन

लगता है
एक नये ढंग का
चक्रवर्ती बनाया जा रहा हूँ

मैं एक व्यक्ति
हर चीज़ के द्वारा
व्यक्तिगत रूप से मनाया जा रहा हूँ !

('व्यक्तिगत' से)

अगले संग्रह में

गीला कपड़ा
चिपक जाता है
जैसे बदन से

नम कुछ बातें वैसी
चिपकी हैं
मेरे मन से

अपने अगले संग्रह में
बहुत दिखूंगा
मैं

गीले शब्दों को बचाकर
कहाँ तक
लिखूंगा मैं

अभिव्यक्त करना अपने को
एक बात है
उघाड़ा होना दूसरी बात

दूसरी बात को
हमेशा
बचाना चाहता रहा हूँ

निभाता रहा हूँ
जो कुछ अब तक
अशक्ति के दिनों में भी उसे

निभाना चाहता हूँ
अवगाहना चाहता हूँ
गहराइयाँ

मगर
तरबतर कपड़ों में
किनारे पर निकलकर

खड़े हो जाना
भीड़ के सामने
आज तक जैसा

बचाया है राम ने
चाहता हूँ
वैसा बच जाये

मेरा शब्द गाये
अन्तर बाहर सब-कुछ
मगर सँभालकर शील को

मैं न किनारे को बुरा लगूँ
निकलकर बाहर
न अखरूँ डूबकर झील को !

('व्यक्तिगत' से)

हवा में

हवा ने
चाँटा-सा
मार दिया है तुम्हें

याद ने
काँटा-सा
उभार दिया है भीतर

तो ऐसा करो
उछाल दो
हवा के चेहरे पर

गीत के तरल स्पर्श
कि हटे वह पीछे-पीछे
बचती हुई—जैसे पिचकारी से

सड़क से नीचे खन्दक में
फूल जो खिला है
तोड़ लो उसे

हटती हुई-सी हवा में गाते-गाते
अगोर लो इस तरह याद के काँटे को भी
खन्दक से बाहर तक आते-आते !

('व्यक्तिगत' से

मेरे बारे में

हँसो तमाम दुनिया-भर के लोगो
मुझ पर हंसो
कि मैंने कितनी बातें की हैं
और कितनी तुमसे छुपा ली हैं

सब-कुछ न मैं बताना चाहता हूँ
न बताऊँगा
इस तरह मैं तुम्हें ही नहीं
अनन्तकाल को भी सताऊँगा
वह भी सब कुछ नहीं जानेगा मेरे बारे में
जो कुछ मानेगा आधा-आधा मानेगा मेरे बारे में
लगा आज सब ख़त्म हो जाएगा
यों आसमान साफ़ था
और सूरज चमक रहा था
मगर सिर जैसा धमक रहा था
वह हर बार या किसी भी बार के
धमकने से अलग था

लगा काल उस क्षण जितना सजग था
उतना मेरी हद तक
कभी सजग नहीं था
लोग मेरी तरफ़ एक अजीब ढंग से
देख रहे थे
और औरतें
मुझ सड़क पर चलते हुए को
यों झाँक रही थीं
जैसे किसी गुज़रती अर्थी को

तभी आसमान घिर गया
डूब गया सूरज
और मुझे लगा निकला एक तारा
क्षण-भर का सहारा
और फिर डूब गया वह भी
मैं सिर पकड़कर बैठ गया
लगा यह मेरा तारा था
मेरा सहारा था
और अब डूब गया है
सब डूब गया है इसके साथ !

('त्रिकाल संध्या' से)

मानसरोवर-दिन

दिन के
मानसरोवर में
कितने शतदल
कितनी काई

मेरे हिस्से में आयी
केवल दृष्टि

यानी
मानसरोवर से
सूरज तक की
सारी सृष्टि

शायद
एक ही दिन के लिए

कम नहीं है
मानसरोवर
ऐसे एक दिन का भी
पहर-आधा पहर
मिल जाना

इसकी हल्की-सी एक लहर
के साथ
फूलों तक क्या
दो-चार फूलों तक भी
हिल जाना

ना ना ना
कम नहीं है

मैं कृतज्ञ हूँ
तुम्हारे प्रति
ओ
मानसरोवर-दिन

और तुम्हें गाता हूँ
तुम्हारे शतदल
और तुम्हारी काई के साथ

मेरी परछाईं
तुम्हारे जल पर

धन्य हूँ मैं !

('मानसरोवर-दिन' से)

छाया व्याकुल

छाया की तरह झुका हुआ
एक आदमी
आँखें गड़ाकर
दूसरी छाया को पढ़ रहा है !

और इसी को देखकर
बढ़ रहा है
मेरे भीतर के
अन्धकार का बिन्दु
वृत्त में यों
कि अब वह
क्षितिजों को छुएगा

और व्याकुल होंगे
जब छूकर उसे क्षितिज
तब उनकी आँखों से
प्रकाश चुएगा !

('मानसरोवर-दिन' से)

भविष्य

दोपहर तक जागेंगे वे

औरों की तरह आँख उनकी
सूरज के साथ नहीं खुलेगी

उन पर ढायी गयी जुल्मत
दोपहरी तक धुलेगी

और तब
बाहर आएँगे वे
अपने सपने से

काया खून से तर-बतर
छाया पुण्यों की
उनकी आँखों में

दोपहर तक जागेंगे वे
माँगेंगे अविचल स्वर में
पुण्यों का प्राप्य
और पाप तब थरथरायेगा

आयेगा
आयेगा वह दिन
सूरज और जलाशय और फूल
और आदमी
सब एक होंगे तब

नेक होंगे तब आप के पाप
यह कौन कह सकता है

मगर विश्वास
एक भविष्य है
और कभी न कभी
पूरा होना पड़ता है उसे !

('मानसरोवर-दिन' से)

मेरे स्वरों में

मेरे स्वरों में
कई बार एक
गीलापन होता है

होने को वह गीलापन
मेरा मन होता है
मगर बूंदें
जो वनती हैं
वे मेरे मन के हिसाब से
नहीं बनतीं

मन चाहता है
कि वह बूंद-बूंद गलकर
धारा बने
इसीलिए कि
संसार में
न बने यहाँ
थार का मरुस्थल
न वहाँ कोई सहारा
बने

अनमने नयन भी
झाँकें जब
उस धारा में
तो उन्हें प्रतिबिम्बित दिखें
अपने ही सपने नहीं
दु:खी सारे परिवेश के
चेहरे

कठिन है साधारणतया
दु:खी परिवेशों की तरफ़
देखना सीधे-सीधे
देखना उनका प्रतिबिम्ब
अपने ही मन से
टपकी और वही धारा में
न उतना मुश्किल
और न उतना कष्टकर

समझकर
उतारे जा सकते हैं
प्राणों में
उनके ठीक-ठीक प्रतीक
इसीलिए
प्रिय लगता है मुझे
मेरे स्वरों का गीलापन
सम्भावना है क्योंकि
उसके टपकने और
बहने की

बनकर धारा
समाप्त कर देने की
यहाँ का थार
वहाँ का सहारा

चाहता हूँ धारा
पहले तेज़ बहे
और फिर वह
सम हो जाये

सारी फैली रेत
उसे खींचे पिये
और नम हो जाये

यहाँ तक कि
जब जमने लगे
उसके ऊपर काई
तब भी
उसे हटा फेंकने के प्रयास में
लहरें हिलने न दें
समधारा पर पड़ी
दुःखी सारे परिवेश की
परछाइं

और उतरे
उसका प्रतिबिम्ब
प्राणों में
गीले स्वरों में
अग-जग भरनेवाले
गीतों-गानों में !

('नीली रेखा तक' से)

आकाश-गंगा

नंगा एक फ़कीर
आकाश गंगा की
तरह
लेट जाता है
आकर
हर रात
मेरे सामने

आँख कान
हाथ पाँव
छाती पेट
कुछ नहीं
दिखता उसका
प्रकाश भर
दिखता है
उसका

मगर
कौन देखे
रोज़-रोज़
अपने पास
आ जानेवाली
आकाश गंगा

को
तो
मैं भी
उसे नहीं देखता
यों याद है
मुझे उस फ़कीर का
जनम दिन
याने देखा था मैंने उसे जिस दिन
पहले पहल

उसका जनम दिन
यानी दिखना पहले दिन का
धूमधाम से मना लेता हूं
बना लेता हूँ
इस तरह
किसी एक चलन में ही सही
आकाश-गंगा को अपना

बातें करता रहता हूँ उससे
रात-भर
कम-से-कम साल में एक बार !

('नीली रेखा तक' से)

परिशिष्ट-ख

प्रकाशित कृतियाँ

1. गीत फ़रोश (1953)
2. चकित है दुःख (1968)
3. अँधेरी कविताएँ (1968)
4. गाँधी पंचशती (1969)
5. बुनी हुई रस्सी (1971)
6. खुशबू के शिलालेख (1973)
7. व्यक्तिगत (1974)
8. अन्तर्गत (1979)
9. अनाम तुम आते हो (1976)
10. परिवर्तन जिये (1976)
11. इदम् न मम् (1977)
12. त्रिकाल संध्या (1978)
13. शरीर कविता फ़सलें और फूल (1980)
14. मानसरोवर-दिन (1981)
15. सम्प्रति (1982)
16. नीली रेखा तक (1984)
17. तूस की आग (1985)
18. कालजयी (खण्डकाव्य) (198[illegible])
19. तुकों के खेल (बच्चों के लिए)
20. जिन्होंने मुझे रचा (संस्मरण) (1981)
21. कुछ नीति : कुछ राजनीति (निबन्ध) (1983)

अनुवाद :

22. एन्टिगोनी (सोफ़ोक्लिज़)

परिशिष्ट-ग

सम्मान-पुरस्कार

सन् 1972 में 'बुनी हुई रस्सी' काव्य-संग्रह के लिए साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत।

सन् 1977 में 'परिवर्तन जिए' कविता संग्रह पर उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान का पुरस्कार।

1983 में मध्य प्रदेश सरकार ने 'शिखर सम्मान पुरस्कार' से सम्मानित।

दिल्ली प्रशासन—साहित्य कला परिषद द्वारा सम्मानित; तुलसी और ग़ालिब पुरस्कारों से सम्मानित।

भारत सरकार द्वारा 'पद्मश्री' से विभूषित।

परिशिष्ट-घ

सम्बन्धित पुस्तकें

भवानी प्रसाद का काव्य संसार —कृष्णदत्त पालीवाल

भवानी प्रसाद मिश्र : सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : अन्तरंग साक्षात्कार —कृष्णदत्त पालीवाल

भवानी प्रसाद मिश्र —सुरेशचन्द्र त्यागी

भवानी भाई —प्रेमशंकर रघुवंशी

कालजयी कवि —हरिमोहन

□□

भवानी प्रसाद मिश्र (29 मार्च 1913—निधन 20 फ़रवरी 1985) आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण एवं ज़रूरी कवि माने जाते हैं। उन्होंने अपने काव्य मुहावरे की जहाँ अलग पहचान क़ायम की वहाँ समकालीन काव्य परिदृश्य को प्रभावित भी किया। सहज और सरल बातचीत के प्रवाही लहज़े में कविता कहने की नयी शैली के वे एकमात्र शिल्पी थे। वे गाँधीवादी विश्वासों-विचारों में अडिग विश्वास रखनेवाले, निर्भय और दो टूक बात कहनेवाले कवि थे।

वास्तव में नयी कविता में जहाँ अन्यान्य कवियों द्वारा कथनगत दुरूहता, बौद्धिक बोझिलता तथा आधुनिकता को ज्यादा तरजीह दी जाती रही, वहाँ भवानी भाई पहचाने हुए सामाजिक दुःखों तक गहरी पैठ रखनेवाले कवि थे। उन्होंने भावप्रवणता तथा परम्परा की अजस्रता को वर्तमान की कसौटी पर कसकर अपनाने और जीवन में उतारने पर ज़ोर दिया। जहाँ-जहाँ असंगतियाँ दिखीं, वहाँ-वहाँ कसकर निर्द्वन्द्व व्यंग्य प्रहार किये।

भवानी प्रसाद मिश्र वस्तुतः लोकचेतना और लोक-चित्त के पारखी कवि रहे। शिल्प से ज्यादा उनका आग्रह कथ्य पर रहा। कथ्य को घायल का घाव माना। वे तात्कालिकता के आग्रही रहे। और इसलिए उनकी कृतियों में जगह चेतना प्रक्रिया पर अधिक बल रहा है। उनकी काव्य रचनाओं में *गीत फ़रोश, चकित है दुख, अंधेरी कविताएँ, गाँधी पंचशती, त्रिकाल संध्या, अनाम तुम आओ* और *तूस की आग* अधिक प्रसिद्ध हैं। *बुनी हुई रस्सी* (काव्य-संकलन) के लिए उन्हें वर्ष 1972 का साहित्य अकादेमी का पुरस्कार प्राप्त हुआ। दिल्ली साहित्य कला परिषद् पुरस्कार, मध्यप्रदेश शासन सम्मान और ग़ालिब सम्मान भी उन्हें प्राप्त हुए।

कवि, चिंतक और निबंधकार भवानी प्रसाद मिश्र पर लिखी गयी इस पुस्तिका में कवि-समीक्षक बलदेव वंशी ने मिश्र जी के रचनात्मक जीवन की समग्रता को ऐतिहासिक सन्दर्भों में परखने का प्रयास किया है। साथ ही, कविता के बहुआयामी कृतित्व के मुख्य उपदानों—भाव, विचार और कलात्मकता की विशिष्टता को—लोकपक्षीय दाय के रूप में प्रस्तुत किया है।

छायाचित्र : कैविन रेफर्टी के सौजन्य से

ISBN 81-7201-243-8

पन्द्रह रुपये